भारतीय संस्कृति और उसकी समस्यायें

व्याख्यानदाता

डॉ० पी० टी० राजू

अनुवादक

डॉ० देवराज उपाध्याय

दी स्टूडेन्ट्स बुक कम्पनी

विश्वविद्यालय, ज्ञान-प्रस्तार व्याख्यान
राजपूताना विश्वविद्यालय

भारतीय संस्कृति और उसकी समस्यायें

व्याख्यानदाता

डॉ० पी० टी० राजू

डालमिया प्रोफेसर ऑफ फिलॉसफी
राजपूताना विश्वविद्यालय
भूतपूर्व विजिटिंग प्रोफेसर ऑफ फिलॉसफी
कालिफोर्निया विश्वविद्यालय
तथा
ताता विजिटिंग प्रोफेसर ऑफ फिलॉसफी
एशिया इन्स्टीट्यूट, न्यूयार्क

—:अनुवादक:—

डॉ० देवराज उपाध्याय,

उपसंचालक
राजस्थान पुरातत्त्वान्वेषण मन्दिर, जयपुर

प्रकाशक—

दी स्टूडेण्ट्स बुक कम्पनी

जयपुर   जोधपुर

प्रथम संस्करण   १९५७   मूल्य २)

प्रकाशक:—
दी स्टूडेण्ट्स बुक कम्पनी
जयपुर जोधपुर

मुद्रक:—
दी यूनाइटेड प्रिंटर्स,
जयपुर ।

सम्मतियाँ

लेखक भारतीय संस्कृति के रचनात्मक युग से प्रारम्भ करता है, और अठारहवीं शताब्दी में भारतीय संस्कृति ने जो प्रौढ़ और संगठित रूप धारण कर लिया था उसका बहुत ही विचारोत्तेजक अध्ययन प्रस्तुत करता है। वह अपने अध्ययन को आधुनिक, सांस्कृतिक संघर्षों के गम्भीर विश्लेषण के साथ समाप्त करता है। साथ ही भारत की आधुनिक समस्याओं का बहुत ही उपयोगी अध्ययन प्रस्तुत करता है।

राजू को सचमुच भारतीय दर्शन और उसके इतिहास का अधिकारपूर्ण ज्ञान है। अतः इस विषय पर उनके आलोचनात्मक विचार बड़े ही दिलचस्प हैं। इसके अलावा उन्होंने अनेक देशों का पर्यटन किया है, पश्चिमी विचार धारा से वे पूर्णतः परिचित हैं और खूब समझते हैं कि संसार व्यापी संगठन को बौद्धिक आधार पर स्थापित करने की कितनी सख्त जरूरत है। इस पुस्तक में उन्होंने २० वीं शताब्दी के नागरिक की दृष्टि से भारतीय संस्कृति का विवेचन तथा प्रत्यालोचन किया है। किन नये विचारों को विकसित करने की आवश्यकता है, परम्परागत किन प्रगतियों को सशक्त बनाना है, हमारे युग में भारतवर्ष अच्छी तरह अपना पार्ट अदा कर सके इसके लिए क्या क्या परिवर्तन की आवश्यकता है इन्हीं प्रश्नों के साथ इस पुस्तक भर में निपटने का प्रयत्न किया गया है। परिणाम स्वरूप एक बहुत ही महत्वपूर्ण पुस्तक का प्रणयन हो सका है। भारतीय संस्कृति के विद्यार्थियों के लिए ही नहीं परन्तु आज के नव-निर्माणोन्मुख विश्व के प्रत्येक नागरिक

के लिए यह पुस्तक महत्वपूर्ण है जो चाहते हैं कि उनकी परम्परागत रिक्थ आज की नूतन संस्कृतियों के साथ एक सामान्य मनोभूमि पर गठबन्धन कर सके।

× × × ×

यह पुस्तक गम्भीर है साथ ही सामयिक भी। यह बहुत ही उत्साह प्रद बात है कि एक दार्शनिक अपनी विद्वत्ता और अनुशासन का प्रयोग अपनी युग की नैतिक समस्याओं के विश्लेषण में लगा रहा है।

प्र० जॉन वाइल्ड (हरवर्ड विश्वविद्यालय)
के फिलासफी; "इस्ट एण्ड वेस्ट" में प्रकाशित एक लेख से।

× × × ×

डा० राजू ने इस पुस्तक का प्रकाशन कर विश्व की बड़ी सेवा की है। यह पुस्तक विद्वत्तापूर्ण हैं और महत्वपूर्ण राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान में बहुत ही विचारपूर्ण योग देती है।

(हिन्दु)

× × × ×

विशेषतः आपकी पुस्तक भारतीय संस्कृति और विचाराधारा के इतिहास के सम्बन्ध में अनेक नई बातें बतलाती है। साथ ही मानवता वादी दर्शन का किस तरह से विकास हो सकता है इसके लिए कुछ महत्व-पूर्ण विचार उपस्थित करती है।

जूलियन हक्सले

× × × ×

पुस्तक विचारकों के लिए मनन करने योग्य है और यह सरकार के लिए भी उपयोगी होगी।

के० पी० स्पालडिग
(अकसफोर्ड विश्वविद्यालय)

निवेदन

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् भारत पर कितना बड़ा उत्तरदायित्व आ गया है कदाचित् इस बात को हम अच्छी तरह समझ नहीं सके हैं। यदि हम भारतवासी इसे अच्छी तरह समझ पाये होते तो आज हमारी शक्ति का अपव्यय जिस तरह हो रहा है उसका दयनीय दृश्य सामने नहीं आता, मूल को छोड़ कर पत्तों के सींचने की ओर हम नहीं झुकते। तत्व-बुभुत्सा को छोड़ कर कामचलाऊ मनोवृत्ति हम नहीं अपनाते। पर आज बात हो रही है यही। हम गहराई की उपेक्षा कर विस्तार को महत्व देने लगे हैं और इसे ही प्रगतिशीलता समझ कर फूले नहीं समाते। यदि इस मनोवृत्ति पर नियन्त्रण नहीं किया गया तो यूरोप के हृदयद्रावक इतिहास की विकृत पुनरावृत्ति के सिवा हम कुछ न कर सकेंगे। अतः हमारी समस्या यह है कि हम अपने को पहचानें, संस्कृति के सच्चे स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करें और उसीके आलोक में यात्रा प्रारम्भ करें।

इतिहास को सुविधा के लिये तीन काल में विभक्त किया जाता है, प्राचीन, मध्यकालीन और आधुनिक। अति सुदूर प्राचीन का ज्ञान तो हमें पूरा नहीं है। अतः उसके बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। पर जब से उसका कुछ स्पष्ट चिन्ह मिलने लगा है तब से मध्यकालीन कहलाने वाले युग तक के जीवन-प्रवाह की अभिव्यक्ति धर्म के मार्ग से होती थी। बाद में १८ वीं, १९ वीं शताब्दी में धर्म को दबा कर राजनीति उभर आई थी और जीवन को अपने ही रङ्ग में ढालने लगी थी। पर अब युग बदला है और धर्म तथा राजनीति दोनों ही मानों हमारे जीवन के विकास के लिये अपर्याप्त से मालूम पड़ते हैं। आज की एक मात्र आशा संस्कृति ही नजर आती है और इसके सहारे ही हम अपने गंतव्य स्थान को पहुँच सकेंगे। धर्म ने हमें कम नहीं दिया है, राजनीति का भी रेकार्ड बुरा नहीं होगा। पर वे हमारी नई समस्याओं के साथ सङ्गति बैठा लें ऐसा लचीलापन उनमें नहीं है। संस्कृति में लचीलापन भी है और समस्याओं की ललकार के सामने इसे अभी खड़ा भी नहीं किया गया है। हमें इसे आजमाना है।

डा० राजू के व्याख्यानों में इसी भारतीय संस्कृति के सच्चे स्वरूप को पहचानने का प्रयत्न किया गया है और देखा गया गया है। कि इसकी आंतरिक शक्ति क्या है। यों तो भारतीय संस्कृति पर पुस्तकों का अभाव नहीं पर उनमें आवान्तर बातों की इतनी भरमार है कि समस्या पर दृष्टि जमने ही नहीं पाती। इन व्याख्यानों में बड़े ही सुलझे ढङ्ग से बातों को सामने रखा गया है। प्रथम दो व्याख्यानों में भारतीय संस्कृति की ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि दी गई है ताकि हम इसकी निर्णायक शक्तियों से परिचित हो जायँ। तीसरे व्याख्यान में समस्याओं को सामने रखा गया है, चतुर्थ में उनके समाधान बतलाने की चेष्टा की गई है। इस्लाम के आगमन से हमारे यहाँ कौन कौन सी नई समस्याएं आ गईं, हम उसे अन्य संस्कृतियों की तरह अपने रङ्ग में क्यों नहीं रङ्ग सके, पश्चिमीय संस्कृति के संघर्ष का क्या रूप रहा और इनके सम्पर्क में आने से हमारी कौन सी त्रुटियां सामने आईं—ये सब बातें इस छोटी सी पुस्तक से स्पष्ट हो जायँगी और अपने स्वाभाविक मार्ग को पहचानने में सहायक होंगी।

मेरे हृदय में बचपन से ही भारतीय संस्कृति और इतिहास के लिये ममत्व रहा है। डा० राजू के व्याख्यानों को पढ़ कर मुझे भारतीय संस्कृति के स्वरूप को स्पष्ट रूप से समझने में सहायता मिली। मुझे अपने जैसे अनेक व्यक्तियों की कल्पना सामने आई जो उचित आलोक के अभाव में अपने विचारों के धुंधलेपन से मुक्त नहीं हो सकते होंगे। अतः मैंने सोचा कि इन व्याख्यानों का हिन्दी रूपान्तर यदि सुलभ कर दिया जाय तो एक तरह से यह राष्ट्रीय सेवा ही होगी। मैं राजपूताना विश्वविद्यालय का कृतज्ञ हूँ जिसने इस पुस्तक के अनुवाद करने की अनुमति देकर उदारता का परिचय दिया है। डा० राजू की उदारता तो शब्दातीत है ही।

अनुवाद को यथा साध्य सरल बनाने की चेष्टा की गई है। अंग्रेजी के मजे हुए शब्दों का हिन्दी प्रति शब्द बनाना कितना कठिन है यह भुक्तभोगी ही जान सकता है। अतः त्रुटियां न हों इस बात का दावा मैं नहीं करता। छापे की कुछ अशुद्धियां रह गई हैं विशेषतः विराम चिन्हों के देने में, इसी तरह की कुछ और भूलें भी हैं। पर ध्यान से पढ़ने पर भावों के समझने में। कोई कठिनाई न होगी। उदार पाठक काम चला लेने का कष्ट करें।

जयपुर }

देवराज उपाध्याय

विषय-सूची

व्याख्यान	विषय	पृष्ठ
प्रथम	भारतीय संस्कृति का प्रारम्भिक रचनात्मक युग	१
द्वितीय	भारतीय संस्कृति का संगठित रूप	२६
तृतीय	सांस्कृतिक संघर्ष तथा परिवर्तन का युग	५३
चतुर्थ	हमारी आधुनिक समस्याएँ	८६

भूमिका

राजपूताना विश्व विद्यालय की यूनिवर्सिटी एक्सटेनशन लेक्चर के अन्तगर्त महाराजा कालेज, जयपुर में ये चार व्याख्यान दिये गये थे। उन्हीं को मूल रूप में यहाँ संकलित किया गया है। प्रथमतः, हमें युनेस्को के लिए एक एतद् विषयक निबन्ध लिखने के लिए कहा गया था। हमने उन्हीं विचारों को विकसित कर इन व्याख्यानों का रूप दे दिया है।

पश्चिम में कुछ समय के लिए सांस्कृतिक और धार्मिक समस्यायें जीवनसंघर्ष के लिए उतनी महत्वपूर्ण नहीं रह गई थीं जितने राजनैतिक सिद्धान्त। हालांकि तानाशाही राष्ट्रों में राजनीति ने संस्कृति के रूप को भी प्रभावित करना प्रारम्भ किया है और प्राकारान्तर से संस्कृति पुनः जीवनसंघर्ष का कारण बनने लगी है, परन्तु भारतवर्ष और समीपपूर्व में धर्म और संस्कृति आज भी जीवनसंघर्ष के मुख्य कारणों में से एक है। बहुत से शिक्षित भारतीय, विशेषतः हिन्दू, इस बात को स्वीकार करने में हिचकिचाते हैं और कुछ लोग तो इसे स्वीकार करने में लज्जा का भी अनुभव करते हैं। एक कारण तो यह दिया जाता है कि एक बार इसे स्वीकार कर लेने पर हमें इसकी आलोचना प्रत्यालोचना करनी होगी जिसके कारण इस या उस सम्प्रदाय की भावनाओं को ठेस पहुंचेगी। परन्तु यदि हम लोगों का ध्येय संघर्ष को दूर करना है तो हमें इसके मूल कारणों को समझना होगा और इसके लिए आवश्यकता है कि हम कारणों का यथातथ्य ज्ञान प्राप्त करें। चाहे समस्या सामाजिक विज्ञान की हो या भौतिक विज्ञान की परन्तु हमारा दृष्टिकोण निर्वैयक्तिक और वस्तु-निष्ठ होना चाहिए। सत्योच्चार से कुछ लोगों का हृदय दुख सकता है। जब गेलिलीयो ने पृथ्वी की गतिशीलता की बात कही तो ईसाई धर्मानुरागियों के हृदय को सचमुच आघात पहुँचा था, परन्तु आगे चल कर उन लोगों ने गेलीलियो के कथन के महत्व को अनुभव किया। कारण कि सत्य सदा के लिए दबा कर नहीं रखा जा सकता और मिथ्या की विजय सदा के लिए नहीं हो सकती। यदि ईसाई धर्मानुरागियों के भावों के प्रति हम सदा के लिए सश्रद्ध रहते तो सामाजिक और राजनैतिक उन्नति कभी भी सम्भव नहीं थी। इसी तरह यदि हम कुछ असहिष्णु, परम्परावादियों और कट्टर मनुष्यों की भावनाओं से ही परिचालित हों तो कोई भी सामाजिक और राजनैतिक उन्नति

सम्भव नहीं। समाज की उन्नति परम्परावादियों की भावना से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है।

यह बात सच्ची है कि हम इस बात की ओर से आंख मूंद नहीं सकते कि परम्परा समाज के लिए एक बहुत ही बड़ी संरक्षण शक्ति है। परन्तु परम्परा की जड़ सुदूरातीत ऐतिहासिक और भौगोलिक परिस्थितियों में रहती है और उनके निर्माण करते समय अज्ञात भविष्य को दृष्टि में रखना सम्भव नहीं है। अतः यदि भविष्य कुछ परम्पराओं को अपने लिए उपयुक्त नहीं पाता तो इसका अर्थ यह नहीं है कि यह इन परम्पराओं के निर्मायकों का अनादर है। इसी तरह भविष्य में यदि यह पता लगे कि इन परम्पराओं की नींव मिथ्या अन्धविश्वासों पर रखी गई थी तो भी इसमें उनके संयोजकों के अनादर की बात नहीं। आइनस्टाईन ने जब यह आविष्कार किया कि न्यूटन के सिद्धान्त त्रुटिपूर्ण हैं तो आइनस्टाईन के हृदय में न्यूटन के प्रति अनादर की भावना नहीं थी। उन्नति तभी सम्भव है जब हम सत्यान्वेषी हों, तत्व-बुभुत्सु हों, स्वतन्त्रता पूर्वक विचार करें और उस पर अमल भी करें। यदि उन्नति की अभिलाषा है तो हमें तथ्यों को उनके वास्तविक रूप में ग्रहण करना होगा और विचार करना होगा।

तथ्यों का सामना करने तथा समस्याओं को ठीक से पहचानने में किसी तरह की हिचकिचाहट करने वाली दृष्टि को स्वस्थ नहीं कहा जा सकता। स्वयं हम इसी मनोवृत्ति के शिकार थे, परन्तु जब यूनेस्को की ओर से स्पष्ट रूप से लिखने का निमन्त्रण मिला तब हमें हृदय को खोलने का साहस हुआ। यदि कोई समस्या असमाधानीय भी मालूम पड़े तो भी इसे वस्तुनिष्ठ रूप में समझना ही अच्छा है, इसे टालना ठीक नहीं। कोई भी मानवीय समस्या असमाधानीय नहीं हो सकती यदि हममें इसकी समाधान-प्राप्ति के लिए उत्कट अभिलाषा हो और लोग समस्या का समाधान पाने के लिए आपस में सहयोग करें। इसके मार्ग में अभिमान और पूर्व-ग्रह सब से बड़ी बाधा उपस्थित करते हैं। मासूम बच्चे, विद्वान तथा संत सत्य का निर्घोष खुल कर करते हैं, समस्याओं को उपस्थित करते हैं, उन पर प्रश्न करते हैं तथा उसका उत्तर देते हैं चाहे वह लोगों के लिए कितना ही अरुचिकर क्यों न हो।

जब हम हिन्दू धर्म, इस्लाम और ईसाई धर्म के कुछ पहलुओं के बारे में कुछ कहते हैं तो हमारा उद्देश्य उनकी प्रशंसा या निन्दा करना नहीं है, अपने सांस्कृतिक आदर्श पर उनका क्या प्रभाव पड़ा इतने से ही हमारा मतलब है। हम तथ्य को वास्तविक रूप में ही प्रस्तुत करना चाहते हैं। किसी धर्म में सब कुछ अच्छा ही हो और किसी धर्म में सब कुछ बुरा ही हो यह बात नहीं। यदि हम लोगों में बुद्धिपूर्वक उन्हें त्याग देने तथा उनमें परिवर्तन करने का साहस है तो संघर्ष से बचा जा सकता है और उन्नति सम्भव हो सकती है। परन्तु यदि एक सम्प्रदाय इस मार्ग के अवलम्बन करने में अनिच्छा प्रगट करता है तो दूसरे सम्प्रदायों में भी इसकी प्रतिक्रिया अच्छी नहीं होगी। सांस्कृतिक उन्नति सहकारी उद्यम है जिसमें सम्बद्ध समूहों को आदान प्रदान की भावना से ही काम नहीं करना पड़ता है किन्तु परित्याग और ग्रहण के लिए भी तैयार रहना पड़ता है।

इन व्याख्यानों में भारतीय संस्कृति शब्द का प्रयोग एक व्यापक अर्थ में किया गया है मूलतः भारतीय संस्कृति भारत के उन आदिम निवासियों की संस्कृति है जो द्राविड़ लोगों के पहले भी यहाँ निवास करते थे। आगे चल कर इसकी सीमा में द्राविड संस्कृति, फिर आर्य संस्कृति, फिर इस्लामी, और अन्त में पश्चिमी संस्कृति भी आ गई। आज अवस्था यह है कि इस देश की संस्कृति के भिन्न भिन्न विरोधी तत्वों का पूर्ण संशोधन अभी तक नहीं हुआ है और उचित समन्वय की स्थापना भी नहीं हो सकी है।

कुछ लेखक भारतीय संस्कृति को हिन्दू संस्कृति से मिला देते हैं और ऐसी बातें करते हैं मानों इस्लाम और ईसाई संस्कृति इससे भिन्न हो। कुछ लोग तो बुद्ध संस्कृति को भी हिन्दू संस्कृति से भिन्न मानते हैं हालांकि इसके लिए कोई औचित्य नहीं है क्यों कि आरम्भ में बुद्ध धर्म भी आर्य धर्म का ही अंग था जो आगे चल कर हिन्दू धर्म के नाम से पुकारा जाने लगा। अतः हमने यही उचित समझा कि किसी पूर्व निश्चित परिभाषा के साथ उसे प्रारम्भ करना उचित नहीं। प्रारम्भिक ब्राह्मण संस्कृति को बुद्ध संस्कृति का मौलिक विरोधी नहीं कहा जा सकता क्योंकि बुद्ध संस्कृति के मौलिक तत्व ब्राह्मण और उपनिषदों में पाये जाते हैं। हिन्दू संस्कृति तो बुद्ध धर्म

के उत्थान और प्रसार के बाद ही दृढ़ रूप धारण कर सकी है। यही हिन्दू संस्कृति थी जिसे इस्लाम के साथ भयानक संघर्ष में परिवृत्त होना पड़ा। इस्लाम के आगमन के बाद भारतीय संस्कृति में इस्लामिक तत्व भी आ जाते हैं भले ही कुछ मुसलमानों को यह बात पसन्द न आये। पश्चिम का सम्पर्क जिस भारतीय संस्कृति से हुआ उसमें इस्लामिक तत्व भी वर्त्तमान थे। आज भारतीय संस्कृति की सीमा में ईसाई और पाश्चमी वैज्ञानिक संस्कृति भी आ मिली है और भारतवर्ष के सामने समस्या यह है कि इन तत्वों में सच्चे समन्वय की स्थापना किस तरह की जाय जिन्हें आज तक यों ही छोड़ दिया गया था।

इन व्याख्यानों में भारत की सब समस्याओं की चर्चा करने का प्रयत्न नहीं किया गया है। न यह ही प्रयत्न किया गया है कि भारतीय संस्कृति के द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उत्पन्न उन सब समस्याओं की चर्चा की जाय। इसमें तो मानवीय और सामाजिक दृष्टिकोण से कुछ मुख्य मुख्य बातों की ही चर्चा की गई है। संस्कृति सभ्यता का आन्तरिक और मानसिक रूप है और उसकी अभिव्यक्ति तरह तरह की दन्त कथाओं, कला, सामाजिक और राजनैतिक संगठन, धर्म, विज्ञान और दर्शन के रूप में होती है। ये व्याख्यान एक साधारण जनता के लिए तैयार किये गये थे। अतः संस्कृति के सब रूपों की चर्चा करना अथवा एक अंश के साथ भी पूर्ण रूपसे न्याय करना इनकी सीमा के बाहर था। हमारा ध्येय केवल यही था, कि हम भारतीय संस्कृति और उसके द्वारा उत्पन्न मुख्य मुख्य समस्याओं के दार्शनिक पहलुओं को व्यापक रूप में रखें। ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि के रूप में भारतीय संस्कृति के विकास पर एक विहंगम दृष्टि दी गई है जिसमें तिथियों और तथ्यों की सत्यता को प्रमाणित करने का प्रयत्न हो नहीं सकता था।

मैं इस अवसर पर राजपूताना विश्व विद्यालय को धन्यवाद देता हूँ जिसने व्याख्यान देने के लिए आमन्त्रित ही नहीं किया, परन्तु उनके छपाने और प्रकाशित करने की भी व्यवस्था की।

————

भारत की संस्कृति और उसकी समस्याएँ*

प्रथम व्याख्यान

भारतीय संस्कृति का प्रारम्भिक रचनात्मक युग

भारत पूर्व और पश्चिम के संघर्ष का केन्द्र स्थल बन गया है इस कथन में किसी प्रकार की असंगति नहीं होगी यदि हम ध्यान रखें कि इन दोनों शब्दों का प्रयोग पौर्वात्य और पाश्चात्य संस्कृति के अर्थ में हो। परम्परा से हम यूरोपीय संस्कृति को पश्चिमीय संस्कृति के नाम से अभिहित करते आये हैं और आज वस्तुस्थिति ऐसी है कि पूर्वी और पश्चिमी संघर्ष यूरोप के आन्तरिक संघर्ष का ही द्योतक होता जा रहा है। अंग्रेजों के आगमन के पश्चात् यद्यपि भारतीय जीवन पर पश्चिम से बड़े ही प्रचण्ड आघात होने लगे थे तथापि पूर्व की विशिष्टता अर्थात् आध्यात्मिक जीवन की महत्ता की स्वीकृति भारतीय संस्कृति की प्रधान विशेषता थी और बनी रही। डिकेन्सन[1] की तरह अनेक विचारक वर्तमान हैं जिनके मतानुसार भारत ही पूर्व का एक मात्र प्रतिनिधि है। चीन और जापान में तो पश्चिम के साथ बहुत ही साम्य है। इस विचार से पूर्णरूपेण सहमत न होते हुए भी भारत को पूर्व का समर्थ तथा विशिष्ट प्रतिनिधि स्वीकृत कर लेने में किसी तरह का प्रमाद नहीं होगा।

---

*इसी विषय पर लेखक ने यूनेस्को के लिये कुछ लेख लिखे थे (UNESCO/PHS/14, Paris 25 October 1949) यह सामग्री भी इन चारों व्याख्यानों में सम्मिलित है। डा० मायोक्स ने उनकी उपयोग करने की स्वीकृति दी है जिसके लिये वे लेखक के धन्यवाद के पात्र हैं।

1. Civilization of India, China and Japan पृ० ७

कारण, जहाँ तक धर्म अर्थात् आध्यात्मिक जीवन की भावानुभूति का प्रश्न है उसे अधिकांश रूप में भारत ने ही चीन और जापान को प्रदान किया है। यहां तक कि आध्यात्मिक जीवन के गम्भीर और सूक्ष्म भावों की उपलब्धि के लिए खीष्टीय धर्म भी भारत का ऋणी है। प्रारम्भिक खीष्टीय धार्मिक रहस्यवाद में दो ग्रन्थ बहुत ही महत्वपूर्ण हैं—क्लाउड आफ अननोइंग तथा बलराम एन्ड जवासेफ जिनके विचारों का बहुत ही ओजस्वी वर्णन एलडस हक्सले ने अपनी पुस्तक 'ग्रे एमिनेन्स' में किया है। पर ये दोनों ग्रन्थ बुद्ध के जीवन तथा उनके दर्शन के खीष्टीय संस्करण मात्र हैं।[२] मुहम्मद ने भी अपने आध्यात्मिक विचार खीष्टीय और बौद्ध धर्म के सम्मिलित वातावरण से ही प्राप्त किये थे।

परन्तु भारतवर्ष में पश्चिम का प्रवेश किसी भयानक विक्षुब्धता का वातावरण नहीं उपस्थित कर सका। फिशर[3] ने ठीक ही कहा है कि भारत में क्रान्तियां मौनव्रती होती हैं। हर्ष का विषय है कि यह मंतव्य भारत के धार्मिक ही नहीं परन्तु राजनैतिक क्षेत्र के लिए भी लागू होता है। महात्मा गांधी का जीवन इसका जीता जागता उदाहरण है। यदि भारत को अपने ढंग पर अग्रसर होने की स्वतन्त्रता हो तो मौन, शान्त और रक्तहीन क्रान्ति उपस्थित करना उसका स्वभाव है। कला, साहित्य, राजनीति तथा सामाजिक संगठन में भारत पश्चिमीय वैज्ञानिक विचार धारा को क्रमशः क्रमशः परन्तु दृढ़तापूर्वक इस तरह समाहित कर रहा है कि इस प्रक्रिया में उसकी आत्मा अक्षुण्ण रहे। उसकी संस्कृति का मूल दर्शन की उस गहराई को पहुँच गया है जहां वह अकुतोभय हो गया है, उसे बौद्धिक सुधारों की जरा भी परवाह नहीं।

---

२. विशेष विवरण के लिये राधाकृष्णन की पुस्तक Eastern Religions and Western Thought के पंचम् और षष्ठ परिच्छेद देखिये।

3, India's silent revolution.

सांस्कृतिक संघर्ष तथा उसके समन्वय की ज्ञानोपलब्धि में संलग्न यूनोस्को जैसी संस्था के लिए भारत बहुत ही उपयुक्त विषय हो सकता है। विश्व में कोई अन्य देश नहीं जहां इतनी जातियां और संस्कृतियां आकर एकत्र हुई हों। साधारणतःअमेरिका को द्रवण पात्र (Melting Pot) कहा जाता है पर वहां भी भारत की तरह इतनी जातियां आकर घुलमिल नहीं गई हैं। अमेरिका में रंग विभेद की समस्या अभी भी सुलझ नहीं सकी है। अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि इस नूतन महादेश में यूरोपीय जातियां ही घुलमिल कर एक हो सकी हैं। पर यह गौरव भारत को ही प्राप्त है कि इस्लाम के आगमन के बहुत पूर्व ही विश्व की अनेक जातियां यहां आकर मिल सकी थीं और यहां एक समन्वय-शील संस्कृति की स्थापना हो सकी थी जिसकी गहराई को आज तक कोई नहीं पहुँच सका। हां, इसके व्यवहार में कहीं कुछ त्रुटियां दिखलाई पड़ें वह बात दूसरी है।

हमें एक महत्वपूर्ण बात याद रखनी चाहिए कि भौगोलिक विभाजन के आधार पर अब पूर्व और पश्चिम की सीमा नहीं मिलती। पश्चिमीय विज्ञान तथा कलाओं ने पौर्वात्य देशों में, विशेषतः भारत, चीन और जापान में, अपनी जड़ जमा ली है। पश्चिम के कुछ प्रमुख चिन्तक अब समझने लगे हैं कि पश्चिम के लिए पूर्व का क्या महत्व है—उस पश्चिम के लिए जहां मानवतावाद जैसे श्रेष्ठ तत्व की महिमा भी घटने लगी है। पूर्व और पश्चिम अनुक्रमशः काल्पनिक सत्ता का रूप धारण करते जा रहे हैं और आशा है कि निकट भविष्य में इनको पृथक कर देखना संभव न हो सकेगा। अतः इन व्याख्यानों में जहां कहीं भी भारत का उल्लेख पूर्व के रूप में किया जाय तो इसका अर्थ यह नहीं कि आधुनिक भारत पश्चिम से सर्वथा असंपृक्त है तथा उसमें पश्चिम का कोई अंश नहीं।

II

भारतीय संस्कृति के मूल्यांकन अथवा ज्ञान के लिए उसके इतिहास का विहंगमावलोकन उपयोगी होगा। साधारणतः संस्कृति का प्रतिनिधित्व, धर्म, दर्शन, कला, साहित्य, तथा सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन में पाया जाता है। परन्तु जैसे आदिम मानव अपने सारे व्यापारों को अपने धर्म के अङ्गीभूत रूप में देखता है उसी तरह सब प्राचीन संस्कृतियों की अभिव्यक्ति में धर्म का रंग गाढ़ा है। भारतीय संस्कृति भी इसका अपवाद नहीं।

भारतीयों की किंचिदपि इच्छा न रहते भी भारतीय संस्कृति जैसे तैसे हिन्दुत्व तथ हिन्दू धर्म के नाम से पुकारी जाने लगी है। परन्तु किसी भी प्राचीन संस्कृत ग्रन्थ में हिन्दू शब्द का उल्लेख नहीं पाया जाता। वैदिक ऋषि–गण अपने धर्म को वैदिक धर्म अथवा आर्य धर्म की संज्ञा देते थे। बुद्ध और महावीर ने भी अपने धर्म को आर्य धर्म ही कहा है। तिस पर भी हिन्दुत्व की परिभाषा नहीं दी जा सकती। यह प्रतिबोधित धर्म नहीं और न एक व्यक्ति के द्वारा प्रतिष्ठापित ही है। यह मनुष्य के आध्यात्मिक विकास का स्वाभाविक परिणाम है, मनुष्य जाति के अन्वेषण का संचित फल है। पर जिस रूप में यह प्राप्त है उसमें उसके विकास–क्रम की अपूर्णताओं के चिन्हावशेष भी वर्तमान हैं। हां, इसकी मौलिक खटकने वाली अपरिपक्वता दूर हो गई है और वे आभ्यन्तरिक गम्भीर आध्यात्मिक उपलब्धि के संकेत मात्र के रूप में रह गए हैं। यही कारण है कि विदेशियों को इसमें प्रस्तर और काष्ठ पूजा से लेकर अभ्यन्तरस्थ चेतना की उपासना तक भिन्न भिन्न परस्पर-विरोधी और असंगत पूजा प्रणालियों का जमघट दिखलाई पड़ता है। कोई आश्चर्य की बात नहीं कि इसके अन्दर किसी भी मतवाद के लिए स्थान हो सके। पर अपने धार्मिक पृथकत्व को बनाये रखने वालों को यही बात खटकती है।

हिन्दू धर्म नाम प्रारम्भिक पारसीकों का दिया हुआ है । कारण कि वे 'सिन्ध' शब्द का उच्चारण 'हिन्द' करते थे। सिंधु तटवर्ती प्रदेश को वे हिन्द कहते थे और यहाँ के निवासियों को हिन्दू। यूरोपीय इस प्रदेश के धर्म को 'हिन्दूइज्म' कहते हैं। यह शब्द आज अनेक शताब्दियों से प्रचलित है। अच्छा होगा कि हम इसकी परिभाषा के लिए प्रयत्न करें। यदि इस बात को ध्यान में रखें कि जिसे हिन्दूइज्म कहा जाता है वह किसी एक व्यक्ति या सभा द्वारा प्रतिपादित कुछ मतवादों अथवा सिद्धान्तों का संग्रह नहीं हैं तो इसमें दो बातों की प्रधानता पाई जायेगी। (१) परमात्मा या चरमतत्व अन्तस्थ है और वही हमारी सूक्ष्म सत्ता है, इसमें अटूट विश्वास (२) तथा उस सत्ता की आत्मोपलब्धि में सहायक एक व्यवस्थित जीवन प्रणाली की स्थापना ।[४] इस सिद्धान्त के पालन करने वाले किसी धर्म से किसी हिन्दू को मतभेद नहीं और उसे वह अपने यहां स्थान देने के लिए तैयार है। यही कारण है कि मेक्निकाल ने हिन्दूइज्म को सर्वस्वान्तकारी कहा है।

एक अति संयत और विनीत अनुमान के आधार पर हम भारतीय संस्कृति का प्रारम्भ मोहनजोदड़ो सभ्यता के समय से अर्थात् ई० पू० ४००० शताब्दी से मान सकते हैं। कुछ लोग इस तिथि को कुछ इधर खींच कर लाते हैं। पर मेरे वर्तमान उद्देश्य के लिए तिथि का उतना महत्व नहीं। हिन्दू इतिहास अवश्य ही अधिक प्राचीन होगा यद्यपि दुर्भाग्य से हमारे पास पर्याप्त मात्रा में स्पष्ट प्रमाण नहीं हैं कि हम उसकी परम्परा का पता लगा सकें। मेक्सिको के एन्टिक तथा दक्षिण अमेरिका के इनकास लोगों की प्राचीन सभ्यता को हिन्दू सभ्यता मानने

---

४. द्रष्टव्य आल इंडिया आरियेंटल कान्फ्रेन्स १६४८ के दर्शन विभाग में सभापति के पद से दिया गया लेखक का भाषण वेदान्त केशरी दिसम्बर १६४८ में प्रकाशित।

के लिए बहुत से प्रमाण उपलब्ध होते हैं। पुराणों ने यद्यपि इतिहास और दंत कथाओं को दुर्भाग्यतः समिश्रित कर दिया है पर उनमें माया सभ्यता, इसकी शक्ति पूजा, नरबलि तथा ज्योतिषशास्त्र के स्पष्ट संकेत पाए जाते हैं।

दक्षिण अमेरिका के निरीक्षकों के परिश्रम फलस्वरूप बहुत से हिन्दू देवी और देवताओं मे मिलती जुलती मूर्तियों, स्थापत्य कला तथा सामाजिक व्यवहारों में समता देखने को मिली है। जोन्स कहते हैं कि वहां पर राम सूर्यवंशी सीता के पति तथा कौशल्या नामक राजकन्या के पुत्र के रूप में चित्रित हैं। यह बहुत मारके की बात है कि पीरू देश निवासी जिनकी एक शाखा अपने को उसी वंश से उत्पन्न मानती है अपने सर्वश्रेष्ठ महोत्सव को रामसीत्या नाम से पुकारते थे। अतः हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि दक्षिण अमेरिका में भी वही जाति निवास करती थी जिसने एशिया के दूर से दूर भागों में राम के काल्पनिक इतिहास तथा लोकाचार का प्रचार किया था।[५] पुराणों में ऐसी कथाएं हैं जिनसे पता चलता है कि इन हिन्दुओं ने उन सुदूरस्थ प्रदेशों पर विजय ही नहीं प्राप्त की थी परन्तु वे अपने मूल देश में निरन्तर लौट कर आते थे और यहाँ के युद्धों में भाग लेते थे। परन्तु इस उपनिवेशवाद की सबसे प्रथम प्रारम्भिक तिथि का निश्चय करना और यह कहना कि हिन्दुओं ने किस तरह इसकी स्थापना की कठिन है। परन्तु आधुनिक इतिहासज्ञों और पुरातत्वविदों ने दक्षिणपूर्वी एशिया तथा पूर्वीद्वीप समूह में स्थापित इस हिन्दूसाम्राज्यवाद को ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी अथवा ईसा की प्रथम शताब्दी तक खोज निकाला है। इन देशों की संस्कृति निश्चयात्मक रूप से हिन्दू हैं और बहुत से तो आज भी बौद्धधर्मावलम्बी हैं। यहाँ तक

---

5. Asiatic Researches Vol. 1, P. 426 जिसे हरविलास सारदा ने अपनी पुस्तक Hindu Superiority के १५३ पृष्ठ पर उद्धृत किया है।

कि पूर्वद्वीप समूहों में इस्लाम का प्रचार भी इस प्राचीन संस्कृति को पूर्णतया नष्ट नहीं कर सका।

हिन्दू संस्कृति और सभ्यता के प्रधान निर्माता आर्य हैं। साधारणतः लोग विश्वास करते हैं कि आर्य तथा उनके पूर्ववती द्राविड लोग दोनों भारत में बाहर से आए थे। समझा जाता है कि द्राविड लोगों ने यहां के आदि निवासी नीग्रीटो जातियों को जीत कर २०००० वर्ष पहले भारत पर अधिकार कर लिया था। उनकी संस्कृति समृद्ध थी। कुछ लोग तो यह सोचते हैं कि पुरोहितवाद और जाति व्यवस्था भारत में आर्यों के आने से पहले ही वर्तमान थी।[६] आर्यों ने द्राविडों को जीत कर यहां अपना पैर जमाया। ऐसा लगता है कि आर्यों ने भारतवर्ष में केवल खैबर दर्रे के द्वारा ही नहीं परन्तु बिलोचिस्तान से हो कर भी भारत में प्रवेश किया और ईरान से आते हुए उन्हें द्राविडों से निरन्तर युद्ध करना पड़ा।[७] विद्वानों में अधिक लोगों का यह विश्वास है कि मोहनजोदडो सभ्यता आर्य सभ्यता से भी पुरानी है। इस सभ्यता के लोग कपास, कृषि, मृतिका पात्रों के निर्माण का कार्य, लेखन कला नृत्य की तरह ललित कलायें, नगर निर्माण कला, स्वास्थ्य, धातु निर्माण कला तथा व्यापार से परिचित थे। उनकी शासन व्यवस्था गणतंत्रात्मक थी। उनमें देवी या शक्ति की उपासना प्रचलित थी और वे योग अर्थात् चित्तवृत्तिनिरोध के द्वारा आत्मसमर्पण में विश्वास करते थे। पशुपति और ध्यानमग्न योगी शिव उनके उपास्य देवता थे। शिव पूजा के भी संकेत यत्र तत्र प्राप्त होते हैं। यह भी सम्भव है कि वे भैंसे को नाश के प्रतीक के रूप में पूजा करते थे। यही आगे चल कर हिन्दू धर्म में मृत्यु के देवता यम के वाहन के रूप में माना जाने लगा।

---

6. E. F. Orton; Links with the Past Ages P. 10
7. Hillebrandt के अनुसार ऋग्वेद का षष्ठ मंडल ईरान के अरकोसिया नामक स्थान में रचा गया था।

ऋग्वेद के आरम्भ होने का समय प्राय: (ई०पू० ४००० से २००० तक) माना जाता है । इस युग के भारत का कोई क्रमबद्ध इतिहास नहीं मिलता । यह निश्चयात्मक रूप से प्रतिपादित नहीं हो सका है कि किसने मोहनजोदड़ो सभ्यता को नष्ट किया । हम लोगों के लिए यह महत्वपूर्ण इस लिए है कि प्रगतिशील भारतीय संस्कृति ने इसकी बहुत सी उपलब्धियों को अपना लिया है । ऋग्वेद आर्यों के आगमन से पूर्व का नहीं हो सकता । मोहनजोदड़ो सभ्यता प्रारम्भ में आर्यों के प्रभाव से अछूती भले ही रही हो पर यह कल्पनातीत है कि यह आर्यों के सम्पर्क में आने पर भी वैसी ही बनी रही जैसी वह ४००० ई०पू०में थी । प्रारम्भिक आर्य प्राकृतिक शक्तियों के उपासक थे । अत: यह सोचा जाता है कि उपनिषदों के आभ्यन्तरिक अन्तर्निष्ठ धर्म के वे जन्मदाता नहीं हो सकते । लोग यह नहीं कह पाते कि सच्ची बात क्या है आर्यों का भारतीयकरण हुआ था अथवा भारतीयों का आर्यीकरण हुआ था ।[8] अन्य देशों के आर्यों में अन्तर्निष्ठ धर्म और जाति व्यवस्था का तो विकास हुआ नहीं । अत: इस प्रश्न में कुछ सार्थकता अवश्य है । उत्तर चाहे जो हो, पर जब तक आर्यों को भारत का आदि निवासी नहीं मान लिया जाय तब तक विभिन्न संस्कृतियों के सम्पर्क सम्मिश्रण की बात माननी ही पड़ेगी ।

वेदों में ऋग्वेद सब में प्राचीन है । कोई वेद एक व्यक्ति की कृति नहीं है । प्रत्येक वेद चार शाखाओं में विभाजित है । सहिता जिसमें मन्त्रों का संग्रह है; ब्राह्मण जिस में यज्ञ और अनुष्ठान विधियों की चर्चा है आरण्यक और उपनिषद जिसमें दार्शनिक विवेचन है। ऋग्वेद संहिता के अति प्राचीन अंशों के अध्ययन से पता चलता है कि आर्यों की प्रवृत्ति अन्तर्मुखी होकर चरमतत्व के अन्वेषण की ओर अभी नही जा सकी थी।

---

8. Sir Charles Elliot; Hinduism and Budhism Vol. I, P. XV.

हो सकता है कुछ समय तक इन्होंने प्राकृतिक शक्तियों उदाहरणार्थ सूर्य चन्द्र, तारामण्डल, वायु तथा तत्तदभिमानी देवतागण की उपासना जारी रखी हो। पूर्व-बुद्धकालीन उपनिषदों में वृहदारण्यक सबसे प्राचीन है। इसका समय ९०० ई०पू० बताया जाता है अतः मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि १५०० से ९०० ई० पू० तक दो प्रकार के धर्मों का अर्थात् प्राकृतिक शक्तियों का तथा अन्तस्थ शक्ति की उपासना का प्रवाह साथ साथ जारी रहा हो और उनका वास्तविक सम्मिलित रूप का उदय बाद में हुआ हो। उस समय दूसरे वेदों तथा उनके उपनिषदों की रचना हो चुकी थी और आर्य धर्म का रूप अन्तर्मुखी हो चला था। लोग महसूस करने लगे थे कि अन्तस्थ आत्मा में तथा वहिस्थं सूर्य में एक ही ज्योति का निवास है।[९] उपनिषदों में ध्यानैकाग्रता की कुछ पद्धतियों के साथ ही इन बातों की भी चर्चा मिलती है, जैसे पुनर्जन्म, कर्मवाद, आत्मा की अमरता, परा और अपरा विद्या तथा ब्रह्म की श्रेष्ठता।

उपनिषदों के समय तक जाति व्यवस्था का विकास हो चुका था यद्यपि आगे चलकर इसमें जड़-कट्टरता आ गई जो अभी तक नहीं आई थी। जाति व्यवस्था पर अनेक ग्रन्थ लिखे गए। कुछ ने इसकी खूब ही प्रशंसा की और कुछ ने इसकी इतनी निन्दा की कि भारत की सारी बुराइयों की जड़ इसे ही बताया। जो भी मत माना जाय, महामहोपाध्याय काने ने[१०] ठीक ही कहा है कि प्रारम्भिक काल में चार वर्णों की जो बात है वह केवल एक वस्तु स्थिति का संकेत मात्र है। उसका अर्थ सैद्धान्तिक आदर्श का संकेत करना नहीं। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में चार वर्णों की बात कही गई है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र। ये क्रमशः पुरोहितों, योद्धाओं, व्यापारियों और कृषकों के नाम हैं। ये अन्तिम दोनों जातियां खेती करती थीं। मैकडूगल कहते हैं कि सब प्राचीन जातियों में वर्ण-

---

९. तैत्तरायोपनिषद, ३, १०, ४

10 History of Dharmashastras Vol II, Part I, P. 47

व्यवस्था वर्तमान थी[११]। विभिन्न जातियों के प्रवाह विजेता के रूप में भारत भूमि पर आते गए, वे यहां बसते गये, उनके कितने सामाजिक स्तर बनते गए। संस्कृत में इसके लिए तीन शब्दों का प्रयोग होता है, वर्ण, जाति और कुल। अतः कहा जाता है कि भारतवर्ष में वर्ण-व्यवस्था तीन सिद्धान्तों पर निर्मित थी। किसी एक पर इसे निर्धारित बतलाना ठीक नहीं। उदाहरणार्थ, प्रारम्भ में शूद्र शब्द से अनार्य जाति का ही बोध नहीं होता था। टाल्मी ने आशचोसिया में बसने वाली एक सिड्रोई जाति का उल्लेख किया है[१२]। इस शब्द का प्रयोग आर्यों के आगमन के पूर्व सिन्धुतटवासी एक जाति के लिए भी होता था, तिस पर भी जैसा ऊपर उल्लेख हो चुका है, द्राविड़ लोगों में भी एक प्रकार की जाति व्यवस्था थी जिसे, कुछ लोगों का विचार है, आर्यों ने अपना लिया था। कारण कि बहुसंख्यक विजित जातियों को आत्मसात् कर लेने के लिए यह सबसे सुविधाजनक और शान्तिपूर्ण तरीका था। साथ में विजित जाति की श्रेष्ठता भी सुरक्षित रहती थी। उदाहरणार्थ लंकाधिपति रावण ब्राह्मण था जिसे राम ने जीत कर मार डाला पर अपने से श्रेष्ठ जाति के व्यक्ति की हत्या के लिए राम को प्रायश्चित करना पड़ा। शक, यवन, पह्लव तथा असुर जैसी आर्य जातियों की भी गणना शूद्रों में होती थी। कंस और नरक जैसे असुर जाति के कुछ लोग थे जिन्हें उनसे वैवाहिक संबन्ध रहने पर भी आर्य जाति में स्थान नहीं मिला था। पाणिनि (६००–३०० ई. पू.) ने उन शूद्रों के नामों के समास के लिए नियम बनाए हैं जिन्हें उच्च जातियों से खान पान का अधिकार प्राप्त था[१३]। एक जाति के सदस्य एक प्रदेश में क्षत्रिय माने जाते थे। जैसे राजपूताने के राठोर पर दूसरे प्रदेश में शूद्र जैसे आँध्र में राठोड्या

---

11. Group mind P. 287.

12. O. R. Bhandarkar; some aspect of ancient Indian Culture P. 10.

१३. आष्टाध्यायी १, २, २२।

रेड्डि । सब मिलाकर पश्चिम भारत के निवासी प्राचीन धर्मानुगामी थे और पूर्व तथा दक्षिण के निवासी थोड़े विद्रोही होते थे । इन दोनों में अन्तर इतना ही था कि एक तो वेद और ब्राह्मणों के मत का दृढ़ता से पालन करते थे और दूसरे बुद्धिवादी थे, आध्यात्मिक अनुशासन पर बल देते थे। यद्यपि वे धीरे–धीरे वर्ण विभेद का भी विकास कर रहे थे। आगे चलकर जातियों और उपजातियों के साथ विशिष्ठ जीविका के भाव भी सम्बद्ध हो गए । उपजातियों से मतलब मुख्य जातियों के अन्दर के कबीली विभेद से तथा अन्तर्जातीय वैवाहिक सम्बन्ध से उत्पन्न संतान से है। ई. पू. चौथी शताब्दी तक भारतवर्ष भर में जाति व्यवस्था की स्थापना दृढ़ रूप में हो गई ।

आधुनिक भारत के लिए जाति विभेद जैसा भी हानिकारक हो परन्तु इसका निर्माण कुछ महत्वपूर्ण सिद्धान्तों पर हुआ था । विजित जातियों का नाश नहीं किया गया पर आर्यों के सामाजिक संस्थान में उन्हें स्थान दिया गया। अंत्यज जो चारों वर्णों से बाहर थे वे भी कुछ मानवीय अधिकारों से सर्वथा वंचित नहीं थे।[१४] सचमुच तत्कालीन आर्य और द्राविड़ों से उनकी संस्कृति हीनतर थी और उनके जीवन तथा उनकी आदतें बड़ी गंदी थीं। खीष्टीय काल को अधिक नहीं बीते हैं कि अमेरिका और अफ्रीका के निवासियों के साथ यूरोप निवासियों ने जो निर्दय व्यवहार किया है उसकी तुलना में प्रारम्भिक आर्यों का व्यवहार अच्छा ही कहा जायगा। किसी को नाश का भय दिखला कर अपने जीवन तथा धर्म का परित्याग करने पर वाध्य नहीं किया गया। आर्य धर्म की प्रवृत्ति आगे चलकर अन्तर्मुखी हो गई थी और इसी के आलोक में उन्होंने अपने प्राचीन मत की व्याख्या की। साथ ही उन्होंने विजित असभ्य जातियों के मतों को भी इसी अन्तर्मुखित्व के आध्यात्मिक रंग में

---

१४. द्रष्टव्य; Kane; History of Dharamshastra Vol. II, part I, P. 169.

रंग दिया । उन्हों ने कहा कि उपास्य मूर्तियां तथा उनकी पूजा विधि आन्तरिक शक्ति तथा उसे प्राप्त करने की प्रक्रिया के प्रतीक हैं । तैत्तरीयोपनिषद् में कहा गया है कि तत्व के रूप की व्याख्या पाँच प्रकार से की जा सकती है। अधिलोकम् अर्थात् भौतिक प्रक्रिया के रूप में, अधि–ज्योतिम्म् अर्थात् दैवं परक, अधिविधिम्, अर्थात् यज्ञ परक, अधिप्रजम् अर्थात् मिथुन परक और अध्यात्यम् अर्थात् आत्म परक । इस अंश से स्पष्ट है कि तैत्तरीय के समय तक विश्व तथा इसकी उत्पत्ति सम्बन्धी धार्मिक जीवन को दार्शनिक आधार पर प्रदान करने वाले पांच सिद्धान्तों का समन्वय करने का प्रयत्न किया गया था। अन्त में पाचवें सिद्धान्त के सामने प्रथम चारों गौण हो गए ।[१५] प्रत्येक उपनिषद् में यही स्थिति पाई जाती है । कुछ लोग याज्ञिक थे जैसे मिथारिक सम्प्रदाय, कुछ प्राकृतिक शक्तियों के पूजक थे, कुछ तत्तदभिमानी देवताओं के पूजक, कुछ लोग, विशेषतः आर्यों के पूर्व निवासी, शिश्नोपासक थे या तो देवी पूजा के रूप में या लिंग पूजा के रूप में, कुछ लोग योगी या अन्तस्थ शक्ति के उपासक थे । तत्कालीन आर्यों ने स्पष्टतः समझ लिया था कि मनुष्य के अन्दर निवास करने वाली तथा सूर्य के अन्दर निवास करने वाली ज्योति दोनों ही तात्विक रूप से एक हैं । उनके मतानुसार ज्योति की पूजा सर्वश्रेष्ठ, संयत तथा बुद्धिसंगत धार्मिक अनुष्ठान है और इसी सिद्धान्त के सामने दूसरों को उन्होंने गौण ठहराया तथा इसी के ढंग पर उनकी व्याख्या भी की। इस तरह सब वाह्यावनुष्ठान आन्तरिक के प्रतीक थे । आदिम असम्य निवासियों को आन्तरिक पूजा का महत्व समझाना सहज नहीं था । अपने से हीनतर संस्कृति वालों के प्रति इस तरह के दृष्टिकोण धारण करने के कारण सहिष्णुता और अपनाव के भाव उनमें जगे और साथ ही अन्य जातियों और उपजातियों में भी । परन्तु एक बार जब जाति प्रथा की स्थापना दृढ़ रूप में हो गई और

---

१५. द्रष्टव्य, भावनोपनिषद् तथा वृहदारण्यकोपनिषद् का प्रथम भाग ।

वह हिन्दू समाज का अंग मान ली गई तब इसका निर्माण करने वाली प्रेरणा विस्मृत हो गई और वे जातियां जिन्हें अपने अपने ढंग पर विस्तृत होने की स्वतन्त्रता थी, उन पर अन्य किसी ढंग से विकास करने पर धार्मिक प्रतिबन्ध लगा दिया गया।

भारत को जाति-प्रथा के द्वारा एक बहुत बड़ा लाभ यह हुआ कि वहाँ वाह्य रूप में मनुष्यों में वैविध्य के रहते हुए सामाजिक और सांस्कृतिक एकता संभव हो सकी। राजनीति का सूत्र शासक जाति के व्यक्तियों के हाथ में था जो सदा तो नहीं पर प्रायः ब्राह्मणों को परामर्शदाता के रूप में नियुक्त करते थे, कारण कि इन आत्म-संयमी तथा निरंतर आध्यात्मिक अनुशासन में जीवन व्यतीत करने वाले ब्राह्मणों के विवेक को प्रबल मनोवेग के द्वारा कुण्ठित होना उतना सहज संभव नहीं था। ग्राम एक स्वतंत्र पूर्ण इकाई था, उसकी अपनी जातियां, उपजातियां होती थीं, उन्हें कोई उपयोगी तथा उत्पादक जीविका सुपुर्द थी। वे अपने शासक को कर देते थे, चाहे वह कोई भी हो। राज्यों में परस्पर युद्ध की बात से शासन करने वाले क्षत्रियों का ही सम्बन्ध था। यह कथन साधारणतः ही ठीक माना जा सकता है। शुंग, कुण्व, आँध्र और कदम्ब आदि कुछ राजकीय वंश तो ब्राह्मण थे और गुप्त सम्राट तो वैश्य थे। पर शासक जाति की हैसियत से क्षत्रियों के साथ उनका शादी विवाह प्रचलित था। जीवनाश तथा अययुत्सुओं की धर्म-हानि का आर्य-धर्म में स्पष्ट निषेध था। अतः राजा लोग परस्परोच्छेदन में भले ही निरत हों, देश का दैनिक जीवन ठीक गति से चलता रहता था। रण भेरी की ताल पर राजमार्गों पर परस्पर विरोधी सेनाओं के रथ, हाथी, घोड़े और सैनिकगण चले जा रहे हैं और किसान अपने हल पर हाथ धर अपने खेतों से शान्तिपूर्वक इसे देख रहा है। ऐसे दृश्य भारत के लिए साधारण बात थी जो मुस्लिम आक्रमण के बाद दूर हो गई। राजागण लड़ते अवश्य थे पर बहुधा अपनी सत्ता की प्रतिष्ठा के लिए ही और वह भी प्रतीकात्मक रूप

में ही। प्रायः युद्ध राजाओं के बीच होते थे, प्रजागण के बीच नहीं। उनमें मैत्रीभाव सदा बना रहता था। राजा लोग वीरता के आदर्श के लिए लड़ते थे, लोभ से प्रेरित होकर नहीं। जाति प्रथा का यह दूसरा परिणाम है। तीसरा लाभ यह था कि व्यवसाय सम्बन्धी विशेषज्ञता सहज साध्य हो सकी, क्योंकि शिक्षा उदाहरणों के द्वारा होती थीं, मौखिक सिद्धान्तों के द्वारा नहीं। जीविका आनुवंशिक थी। अतः पिता अपने पुत्र को बड़े ही प्रेमपूर्ण ढंग से तथा सच्चाई से शिक्षा देता था, अन्त में जैसा कि पूर्व के अनुच्छेद में कहा जा चुका है, हर एक को अपने स्वाभाविक ढंग पर आध्यात्मिक ढंग पर उन्नति करने की पूरी स्वतंत्रता थी और समाज पर उनकी अधिक पकड़ भी बनी रहती थी। यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि प्रारम्भ में लोगों की जातियों में उन्नति और अवनति भी संभव थी।[१६]

जाति-प्रथा की बुराइयों के विषय में कुछ लिखना व्यर्थ है क्योंकि इस पर समाजशास्त्रियों, मनोवैज्ञानिकों तथा ऐतिहासिकों के द्वारा बहुत कुछ लिखा गया है। जैसा कहा जा चुका है जातियों के विभेद के पीछे जो प्रेरक शक्ति थी उसे आगे भुला दिया गया। जातिगत दृढ़ता का स्वाभाविक परिणाम हुआ जातियों में पारस्परिक कलह, सामाजिक एकता का अभाव, सामाजिक प्रगति का अवरोध तथा परिवर्तित परिस्थितियों के अनुरूप ढल जाने की शक्ति का ह्रास। पर इसका यह अर्थ नहीं कि जातियों में सदा पारस्परिक कलह बना रहता था, हिन्दू समाज में एकता नहीं। हिन्दू धर्म का अर्थ अनेक धर्म है, और नीची जाति के लोग अपने को हिन्दू कहे जाने की परवाह नहीं करते।

यद्यपि तत्कालीन हिन्दूधर्म ने आन्तरिकता की उपलब्धि की थी पर भौतिक जीवन के प्रति उसमें अवहेलना नहीं थी। ऋग्वैदिक युग के

१६. जात्युत्कर्ष तथा जात्यपकर्ष; ऊपर उल्लिखित काने की पुस्तक पृष्ठ ६१ द्रष्टव्य।

लोग पुत्र, कलत्र, अर्थ तथा अनेक लौकिक और पारलौकिक सुख के लिए प्रार्थना करते पाए जाते हैं। आगे चलकर आर्य लोग यह समझ चुके थे कि चरम सत्ता अन्तर्निष्ठ है और दृष्टि को अन्तर्मुखी बनाने से ही वह प्राप्त हो सकती है। पर फिर भी वे यज्ञों के द्वारा देवताओं को प्रसन्न कर सांसारिक मूल्यों को प्राप्त करने के लिए लोगों को उद्बोधित करते हैं। स्त्रियां पाप की मूर्ति नहीं समझी जाती थीं और मोक्ष का एक मात्र मार्ग संन्यास ही नहीं बतलाया जाता था। प्रो. कार्ने[17] लिखते हैं 'संहिता तथा ब्राह्मणों में 'आश्रम' शब्द का उल्लेख नहीं है जीवन के क्रमशः अन्त-प्रयाण को आर्यों ने कई अवस्थाओं में विभक्त किया था उन्हीं का नाम आश्रम है। विकसित हिन्दू धर्म में इनकी संख्या चार थी, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ वानप्रस्थ, और संन्यास। पहली अवस्था में मनुष्य गुरु से शिक्षा ग्रहण करता है। दूसरी में समाज के कर्तव्यनिष्ठ सदस्य के रूप में संसार के आनन्दों का उपभोग करता है। तृतीयावस्था में वह अपनी स्त्री के साथ अपने गृह को त्याग कर अपने अनुभवों का विवेचन तथा मूल्यांकन करता है। चतुर्थावस्था में सब कुछ परित्याग कर अपनी दृष्टि को अन्तर्मुखी करता है। इसके प्रमाण मिलते हैं कि प्रारम्भिक आर्यों को प्रथम तीन अवस्थाओं का ज्ञान था, चतुर्थ का नहीं। छान्दोग्य उपनिषद में भी केवल प्रथम तीन ही की चर्चा है।[18] हां, मुनियों अथवा मौनव्रतधारियों से वे परिचित थे जिनकी उन्होंने बड़ी प्रशंसा भी की है। वे यतियों से भी परिचित थे जिन्हें उन्होंने नष्ट कर दिया। प्रो. काने के विचार में यति यातु अर्थात् जादू करने वाले जादूगर थे। बाद के उपनिषदों में संन्यास का उल्लेख मिलने लगता है। इसके पहले भी याज्ञवल्क्य के घर और परिवार परित्याग करने की कथा आती है। बुद्ध धर्म से प्रभावित भारत के सामाजिक जीवन की हिन्दू जीवन व्यवस्था में जिस संन्यास ने स्थान

---

17. History of Dharmashastra, Vol. II, Part I, P. 418

18. 2, 23, 9.

पाया था उससे यह संन्यास भिन्न प्रकार का था। बुद्ध धर्म के बाद वाले उपनिषदों ने तो जीवन के प्रति वैराग्य जगने के बाद बिना तीन अवस्थाओं के पार किये ही संन्यास ग्रहण करने वाले सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है निश्चय ही यह बुद्ध धर्म का प्रभाव है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि पूर्वी और दक्षिण भारत में ऐसे लोग थे जिन्हें वैदिक और ब्राह्मण संस्कृति की श्रेष्ठता स्वीकृत नहीं थी। प्रकृति के देवताओं पर बलि चढ़ाने वाले मत और देवी पूजा वाले सम्प्रदाय जिनमें उसी तरह पशु व बलि ही क्यों नर व बलि की प्रथा थी अविवेक की सीमातक पहुँच जाते थे। बहुत से दलों ने अनुभव किया कि यह धर्म का सच्चा रूप नहीं। यद्यपि ऐसा कहने वालों को विद्रोही ठहराया गया। उपनिषद् के ऋषिगण भी ऐसा ही विचार करते थे। पर कदाचित् इन प्रथाओं को रोकने में वे असमर्थ थे। अतः वास्तविक धर्म की खोज होने लगी और प्रतीकवाद और बाह्य आचारों को दूर करने का प्रयत्न होन लगा। इसके लिए यह आवश्यक था कि सत्य के विशुद्ध रूप को पहचाना जाय और इसकी उपलब्धि के साधन बुद्धि-संगत तथा सीधे हों। यदि प्रतीक किन्हीं तथ्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं तब ऐसा क्यों न हो कि इन नाम के प्रतीकों को परित्याग उन तथ्यों को ही ग्रहण किया जाय। उपनिषद् जो वेदों के ही अंग है इसी विशुद्ध आध्यात्मिक तथ्य की शिक्षा देते हैं। परन्तु वेद अनेक अवांछनीय बातों का भी समर्थन करते हैं अतः त्याज्य हैं। यदि उपनिषद् सत्य की शिक्षा देते हैं तो प्रत्येक उन्हें नये ढङ्ग से उपलब्ध कर सकता है। इस तरह के दृष्टिकोण वाले व्यक्तियों में छठी शताब्दी ई. पू. के बुद्ध और महावीर सर्वश्रेष्ठ हैं। इन दोनों में बुद्ध का व्यक्तित्व बहुत आकर्षक था अतः वे विश्व के ध्यान को अपनी ओर अधिक खींच सके और उनके सिद्धान्तों का प्रचार प्रशांत सागर से लेकर एटलांटिक के ओर छोर तक हो सका।

बहुत साल तक बुद्ध और जैन धर्म को हिन्दू धर्म से पृथक् समझा जाता था। परन्तु हमें यह भूलना नहीं चाहिये कि बुद्ध और महावीर दोनों को हिन्दू शब्द का पता नहीं था। दोनों वैदिक धर्म तथा ब्राह्मण धर्म से परिचित थे और उन्होंने उनका विरोध किया था। परन्तु परम्परापालक धार्मिक नेताओं की तरह ही अपने धर्म को वे आर्यधर्म कहा करते थे। अतः हम यही अनुमान कर सकते हैं कि परम्परा-पालक तथा विद्रोही दोनों ही अपने को आर्यधर्म का प्रतिनिधि ही मानते थे। अतः,यदि हिन्दू धर्म का प्रयोग पूर्व-बुद्ध तथा पूर्व-जैन धर्म की परम्परा के पालन करने वाले धर्म के लिये ही होता है तो हिन्दू धर्म का वही अर्थ है जो आर्य धर्म का होता है। चूंकि ब्राह्मणधर्म, बुद्धधर्म और जैन धर्म तीनों आर्य धर्म होने का दावा करते हैं अतः उन्हें आर्य धर्म की, फलतः हिन्दू धर्म की शाखाओं के रूप में ही ग्रहण करना चाहिये। इस पृष्ठभूमि में देखने से यह स्पष्ट है कि बुद्ध धर्म और जैन धर्म हिन्दू धर्म के ही अन्दर होने वाले आन्दोलन थे। जैसे हमने अन्य स्थान पर कहा है कि वे इसके विद्रोही रूप ही हैं और इनका उससे सम्बन्ध उतना ही घनिष्ठ है जितना सिख धर्म, वैष्णव धर्म, ब्रह्म समाज, आर्य समाज तथा तामिल वैष्णव धर्म का। हमें यह भूलना नहीं चाहिये कि दक्षिण शैवों में कुछ तो वेदों के प्रमाण को एकदम स्वीकृत नहीं करते तिस पर भी उनके अनुयायी हिन्दू ही कहलाते हैं।[१९] विद्रोही होना मनुष्य को हिन्दू होने से रोकता नहीं है। ई० पू० ८ वीं शताब्दी में शङ्कर ने पांचरात्र तथा उसके आगमों को यह कह कर निन्दनीय ठहराया कि वे वेदों से भी अपने को श्रेष्ठ समझते थे। तिस पर भी पांचरात्र के अनुयायी हिन्दू हैं। हिन्दू कहलाने के लिए वेदों का प्रमाण स्वीकार करना कोई आवश्यक नहीं। क्योंकि जैसा ऊपर कहा गया है, तामिल वैष्णव धर्म के कुछ तामिल शैव वेदों के प्रमाण को स्वीकार नहीं करते पर हिन्दू ही

---

१९. ऊपर उल्लिखित लेखक का भाषण द्रष्टव्य।

कहलाते हैं। किसी भी ग्रन्थ में हिंदू पद के अधिकारी कहलाने के लिए अनिवार्य सिद्धांतों का उल्लेख कहीं नहीं। अतः यह पूछना ही बेकार है कि वे कौन सिद्धांत हैं जिन्हें हिन्दू कहलाने के लिए पालन करना चाहिए। हिंदू धर्म ऐसे विश्वास को तुच्छ तथा मानव बुद्धि का अपमान समझेगा। किसी विशेष सामाजिक प्रथा का पालन भी आवश्यक नहीं। कुछ शूद्रों में आज भी विवाह की अपनी रीति हैं। धर्म आन्तरिक शक्ति की खोज का नाम है। अतः बुद्ध और महावीर ने चाहा कि इसके विशुद्ध स्वरूप के किसी प्रचलित बाह्य रूप को किसी प्रचलित बाह्य रूप से अलग करके ही पहचाना जाय। आंतरिक तत्व ही धर्म का सार है इसे परम्परावादी भी अमान्य नहीं कर सके। इसी सत्य की स्थापना के कारण ही उस युग का प्रत्येक प्राणी हिंदू था।

हमारी दूसरी भूल यह है कि हम बुद्ध को एक कूटनीतिज्ञ और समाजसुधारक के रूप में देखते हैं। कुछ भारतीयों ने भी इस व्याख्या को अपनाया है। प्रथमतः, तो इस व्याख्या का आधार मुस्लिम और क्रिश्चियन विचारकों की अलोचना थी जिनका लक्ष्य था जाति-प्रथा पर चोट करना। कारण कि भारत में एक जाति विहीन धर्म को खोज निकालना उनकी बातों का माकूल जवाब था। द्वितीयतः, हम भूलें नहीं कि बुद्धकालीन भारत के पूर्वीय भाग में कोई ऐसी दृढ़ जाति प्रथा न थी जिसमें सुधार की आवश्यकता हो। तृतीयतः,बुद्ध ने कभी भी सामाजिक वैषम्य की चर्चा नहीं की है। चतुर्थतः, सब बुद्ध मतावलम्बियों ने बुद्ध के महाभिनिष्क्रमण के कारण जरा, रोग, और मृत्यु ही बतलाए हैं, किसी सामाजिक वैषम्य को नहीं जिसने उनके चित्त को प्रक्षुब्ध किया हो अथवा जिसके वे शिकार रहे हों। अन्त में बुद्ध धर्मावलम्बियों ने मनु की तरह सामाजिक विधान बनाने की भी परवाह नहीं की। बुद्ध धर्म विहारों तक ही सीमित रहा। यह हिन्दू धर्मान्तर्गत ही एक धार्मिक संघ था। हां, विद्रोहमूलक भले ही हो। इसने कभी भी ऐसे समाज के निर्माण की

चेष्टा नहीं की जिसमें जाति प्रथा का नाम न हो। पर इसने यह अनुभव अवश्य किया था कि कोई कारण नहीं कि सब जातियों के लोग उसी संन्यास मार्ग तथा चित्त संस्कार के द्वारा आन्तरिक सत्य को प्राप्त न कर सकें। बौद्ध धर्म जहां भी गया, साइबेरिया में, चीन में, तिब्बत में, अनाम, बर्मा या लंका में कहीं इसने वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को सुधारने का प्रयत्न नहीं किया। यही इसकी महानता है और कमजोरी भी। महानता इस बात में कि यह विशुद्ध आध्यात्म-परक धर्म था और सांसारिक प्रपंच और व्यक्ति तथा समाज से इसे कुछ मतलब न था। कमजोरी इसलिए कि इसी कारण इसका समाज पर कुछ भी प्रभाव न था। उदाहरणार्थ, जब हिन्दू धर्म ने स्वयं संन्यास को अपनाकर उन आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति का उपक्रम कर दिया और बाद में बुद्ध दर्शन को भी अपना लिया, यहां तक कि बुद्ध को भी विष्णु का ही एक अवतार मान लिया तो किसी ने बुद्ध धर्म के लोप पर आंसू नहीं बहाए। यही कारण है कि यह प्रत्येक देश के निवासियों को एक विशुद्ध आचारनिष्ठ और आध्यात्मपरक श्रेष्ठ धर्म के रूप में ग्राह्य हो सका। उसे उखाड़ फेंकना सहज था क्योंकि यह विहारों तक ही सीमित था और साधारण अनुयायियों के जीवन प्रवाह को पुराने ढंग पर चलने में कोई बाधा न थी। इसके विपरीत जैन धर्म ने हिन्दुओं के ढंग की ही अपनी एक समाज-व्यवस्था चलाई अथवा यों कहिये कि हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में अपनी संगति बैठा ली। अतः भारत से उसका लोप न हो सका।

भारत के मौर्य सम्राटों ने जैन और बौद्ध धर्म को प्रश्रय दिया। मौर्य राज्य वंश के संस्थापक चन्द्रगुप्त (ई० पू० ४ थी सदी) जैन मतालम्बी थे और अशोक (ई० पू० ३ री सदी) ने बुद्ध-धर्म ग्रहण किया था। भारतीय इतिहास के ये दो सर्वश्रेष्ठ नाम हैं। अशोक का नाम तो विश्व इतिहास के सर्वश्रेष्ठ पुरुषों में लिया जाता है। अशोक के

साम्राज्य का विस्तार उत्तर में अफगानिस्तान से लेकर दक्षिण में कन्या-कुमारी तक फैला था। परन्तु तलवार के बल के विपरीत धर्म के बल पर इतने विस्तृत साम्राज्य पर शासन करने वाला वही एक सम्राट हुआ। बुद्ध के सिद्धान्त विश्व में दवाग्नि की तरह फैल गये और बौद्ध प्रचारक अपने धर्म के प्रचार के लिए समुद्र को पार कर उत्साहपूर्वक जाने लगे। अहंकारोन्मत्त मानव के द्वारा कुचली मानवता के लिए इसने आशा और शान्ति के वाहक का काम किया। भारतीयों के लिए इसमें कोई नूतनता नहीं थी। अब तो कट्टर से कट्टर बौद्ध भी यह मानने लगे हैं कि यह उपनिषदों की परम्परा में ही आता है परन्तु बोझिल वाह्याचार और प्रतीकात्मकता का परित्याग कर देने से इसमें वह सीधापन और स्फूर्ति आ गई कि वह ग्रहणशील भारतीय मन को प्रभावित कर सके। भारतीय धर्म एकान्तिक रूप से अन्तर्निष्ठ हो गया। बुद्ध धर्म के चार मूल सिद्धान्त ये हैं, संसार दुखमय है, दुख के कारण है; दुःख से मुक्ति हो सकती है; और इस मुक्ति प्राप्ति के साधन हैं।* बौद्ध धर्म ने विश्व में मानव स्थिति का जिस रूप में निरूपण किया था उसी का वह तथ्य-निरूपक विश्लेषण है। परन्तु इस विश्लेषण के अनुसार संसार दुःखागार है। संभव है कि बुद्ध ने इतने व्यापक निराशा-वाद की शिक्षा न दी हो। परन्तु उनकी मृत्यु के बाद बौद्ध धर्म का यही रूप हो गया। लोग यह तो समझना भूल गए कि आत्मज्ञान एक उपलब्धि है और वे इसे पलायनवाद के रूप में ग्रहण करने लगे। आत्म-ज्ञान की आध्यात्मिकता चरम सीमा पर पहुँची अवश्य, पर वह एकांगी ही रहा। यह सत्य है कि बौद्ध धर्म ने भारत को निरतिशय रूप में आध्यात्मिक और धार्मिक बना दिया। परन्तु इसके कुछ बड़े प्रशंसक भी स्वीकार करते हैं कि इसका उत्तर-कालीन प्रभाव भारत पर कुछ अच्छा नहीं

* बौद्ध दर्शन में चार आर्य सत्य हैं। दुःख, दुःख-समुदय, दुःख-निरोध, दुःख-निरोध गामिनी प्रतिपद।

पड़ा। लोगों में निष्क्रियता आई, वे निराशावादी हो गए, उनमें कृतित्व शक्ति का ह्रास हुआ, उनमें पारलौकिक दृष्टि का विकास एकांगी रूप में हुआ और जीवन के प्रति उल्लास और उमंग के भाव जाते रहे। आध्यात्मिक शक्ति के रूप में बुद्ध धर्म भले ही महद् शक्तिशाली रहा हो पर सामाजिक और राजनैतिक रूप में तो तत्कालीन भारत पर इसका प्रभाव हानिकारक ही रहा। इसकी नैतिक तथा आध्यात्मिक महानता के गुणानुवाद के बाद हैवेल को भी लिखना पड़ा है "साथ ही साथ बुद्ध धर्म के सामाजिक और राजनैतिक रूप के गर्भ में ही दुर्बलता के तत्व वर्तमान थे और इनके चलते ही अशोक के मरणोपरान्त मौर्य साम्राज्य छिन्न भिन्न हो गया"।[२०]

हमारा मत यह है कि बौद्ध तथा वैदिक या ब्राह्मण दृष्टिकोणों में कुछ अन्तर तो बहुत ही स्पष्ट है। प्रथमतः, बुद्ध धर्म में केवल सन्यास मार्ग पर ही बल दिया गया है। इसी कारण यह विहारों तथा मठों तक ही सीमित रहा। मगध साम्राज्य के मुख्य प्रान्त मगध में संघ जीवन का इतना बोलबाला था कि इसका मूल नाम तो दूर हो गया और यह बिहार कहलाने लगा। जिसका अर्थ होता है बिहारों की भूमि। परिणाम यह हुआ कि अच्छे अच्छे बुद्धिमान् लोग समाज से दूर जा पड़े और इसका प्रभाव समाज की आर्थिक व्यवस्था पर बुरा पड़ा। हमें पढ़ने को मिला है कि चीन में लोगों ने इस संन्यास प्रथा की बुराइयों को पहचाना था, हजारों मठ बन्द कर दिये गए थे और भिक्षु भिक्षुणियों को सांसारिक जीवन ग्रहण करने के लिए बाध्य किया गया था। दूसरी ओर परम्परावादियों में अनेक मार्ग प्रचलित थे, विशेषतः कर्म मार्ग और भक्तिमार्ग। जीवन चार आश्रमों में विभाजित अवश्य था पर चतुर्थ आश्रम में प्रवेश करना अनिवार्य नहीं था। उदाहरणार्थ, जनक ने गृहस्थाश्रम का कभी परित्याग नहीं किया। इस आदर्श को सदा प्रोत्साहन मिलता रहा कि मनुष्य को सदा अपने परिवार तथा समाज के प्रति कर्तव्यों का पालन करते रहना चाहिए

20 Aryan Rule in India पृ० १०१

पर वह यह भूले नहीं कि वह भगवान के हाथों में वह एक यन्त्र मात्र है। द्वितीयतः, उपनिषदों ने सदा इसी सिद्धान्त पर जोर दिया है कि मनुष्य एक पिण्ड है जिसमें ब्रह्माण्ड प्रतिबिम्बित होता है, चाहे उसका चरम रूप जो हो। वे सूर्य को विश्व का केन्द्र तथा आदि सूत्र मानते थे और अहं को वैयक्तिक अनुभूतियों का। पर उनके मत में सूर्य अहर) और अहम् में कोई भेद न था। आत्म ज्ञान ही ब्रह्म ज्ञान माना जाता था। आत्मनिष्ठता बाह्यनिष्ठता को निगल नहीं जाती थी। परन्तु बौद्ध लोग आत्मा या पुदगल * के विश्लेषण को ही ज्ञान कहते थे। अतः, जैसा मैंने निवेदन किया है उपनिषदों की विजय-भावना बौद्धों के लिए पलायनवादिता बन कर रह गई।

यह स्वाभाविक ही था कि ब्राह्मण धर्म में एक सफल प्रतिक्रिया हुई। मठों में भिक्षुणियों के प्रवेश से व्यभिचार की वृद्धि हुई जिसे बौद्ध लेखक भी स्वीकार करते हैं और इससे ब्राह्मण धर्म की पुनर्जागृति को बल मिला। मौर्यों के पश्चात् ई०पू० १८३ में बौद्धों के विरोधी तथा ब्राह्मण धर्म के समर्थक शुंगवंशी राजाओं का उत्थान हुआ। बुद्ध धर्म की सामाजिक बुराइयों को लोग अनुभव कर ही रहे थे। भारतीयों ने समझा इसका प्रतिकार कट्टर ब्राह्मण धर्म की पुनःस्थापना में ही है। ब्राह्मणों की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करने वाला ग्रन्थ मानव धर्म शास्त्र इसी युग का है। शुंग राजाओं के एक शताब्दी राज्य कर लेने के बाद कण्व वंशी राजा आए। इनके बाद ई०पू० के अन्त में प्रथम शताब्दी में आंध्र राजाओं का उदय हुआ जिन्होंने चार शताब्दियों तक राज्य किया।

आंध्रों को सतवाहन भी कहते हैं। इन्हीं के समय में बौद्ध धर्म ने पुनः सिर उठाया। पर तब तक यह उपनिषदों के रंग में रंग चुका था।

---

* पूरयंति गलंति च अर्थात् जो पूर्ण हो जाय या गल जाय ऐसे द्रव्य को पुदगल कहते हैं।

नागार्जुन और मैत्रेयनाथ द्वारा प्रवर्तित महायान सम्प्रदाय की दो शाखाएं माध्यमिक एवं योगाचार* इसी युग की हैं। नागार्जुन (ई.पू. दूसरी शताब्दी) को आंध्र राजाओं का सहयोग प्राप्त था। यद्यपि वह उत्तर और दक्षिण दोनों विश्वविद्यालयों का प्रमुख व्यक्ति था पर उसका स्थायी निवास स्थान कृष्णा तटवर्ती अमरावती के समीपस्थ नागार्जुन गिरि पर था। मैत्रेयनाथ उत्तर के निवासी थे। नागार्जुन ने शून्यवाद का प्रतिपादन किया जिसमें उपनिषदों के निर्गुणब्रह्म की ध्वनि थी। मैत्रेयनाथ ने विज्ञानवाद का प्रचार किया और यह भी उपनिषदों के इस सिद्धांत से मिलता है कि ब्रह्म शुद्ध चित्त है। आंध्र राजाओं ने बुद्ध धर्म को अच्छी तरह उत्साहित किया पर ऐसा नहीं कि उन्होंने ब्राह्मण धर्म को निरुत्साह किया हो। उनमें से तो एक ने तो अपने को ब्राह्मणधर्मी होने की भी घोषणा की थी। शुंगों की तरह भारतवर्ष में वे भी अपने चक्रवर्तित्व की घोषणा के लिए प्राचीन ढंग पर अश्वमेध यज्ञ किया करते थे। इस तथ्य

---

* ब्राह्मण दार्शनिकों ने सत्ता विषयक प्रश्न को लेकर बुद्ध दर्शन को चार सम्प्रदायों में बाँटा है :—

(१) वैभाषिक—बाह्यार्थ प्रत्यक्षवाद।

(२) सौत्रान्तिक—बाह्यार्थानुमेयवाद।

(३) योगाचार—विज्ञानवाद, यह बाह्य जगत को मिथ्या मान कर चित् को ही एक मात्र सत् पदार्थ मानता है।

(४) माध्यमिक—शून्यवाद, यह चित् की भी स्वतंत्र सत्ता न स्वीकार कर शून्य को ही परमार्थ सत्य मानता है।

इन मतों का वर्णन बड़े ही सुन्दर ढंग से एक श्लोक में किया गया है :—

मुख्यो माध्यमिको विवर्तमखिलं शून्यस्य मेने जगत्
योगाचारमते तु सन्ति मतयस्तासां विवर्तोऽखिलः।
अर्थोऽस्ति क्षणिकस्त्वसावनुमितो बुद्ध्येति सौत्रान्तिकः
प्रत्यक्षं क्षणभंगुरं च सकलं वैभाषिको भाषते॥

से हम यह अनुमान करते हैं कि इस युग में बौद्ध और ब्राह्मण धर्म प्रतिद्वंद्विता और आत्मसात्-करण द्वारा धीरे-धीरे समीप आ रहे थे। बुद्धधर्म की साधनाओं की सिधाई तथा स्पष्टता के द्वारा समर्थित धर्म का स्थान दूसरे मार्ग क्रमशः ले रहे थे और इसे आंध्रवंश और कुशानवंशी दोनों नृपों का प्रोत्साहन प्राप्त था। इसी युग में याज्ञवल्क्य स्मृति की रचना हुई जिसमें ब्राह्मणों की मनु-प्रदत्त अतुलनीय श्रेष्ठता कुछ कम हो गई। अब तक प्राचीन हिन्दू लोग, ब्राह्मण भी आमिष भोजी थे। पर इस समय से जैन और बुद्ध धर्म के प्रभाव में आकर वे निरामिष भोजी होने लगे।

ई० पू० ३री या ४थी शताब्दी में आंध्रों के पतन के बाद उत्तर में गुप्त राजाओं का उदय हुआ। इन्हीं गुप्त नृपतियों में से एक चन्द्रगुप्त के राजदरबार में ही संस्कृत के श्रेष्ठ कवि और शकुन्तला के रचयिता कालिदास की प्रतिभा चमकी थी। गुप्त काल हिन्दू पुनर्जागृति का तथा संस्कृत साहित्य का स्वर्णिम युग था। यह ध्यान रखने की बात है कि गुप्त राजाओं ने बुद्ध धर्म को दबाया नहीं अथवा दण्डित नहीं किया जैसा कि कभी-कभी कहा जाता है। उसकी गति निर्बाध बनी रही। हां, मौर्य, आंध्र तथा कुशान नृपतियों की तरह राज्य की ओर से इसे सक्रिय सहायता प्राप्त न थी। कहा जाता है कि स्कन्दगुप्त विज्ञानवादी बौद्ध धर्म के एक प्रमुख व्याख्याता वसुबन्धु का उत्साही शिष्य था। यह भी इस बात का प्रमाण है कि बौद्ध धर्म और ब्राह्मण धर्म के बीच पार्थक्य की रेखा धीरे-धीरे मिट रही थी और अन्त में चल कर १६ वीं शताब्दी में तो बौद्ध धर्म ब्राह्मण धर्म में आत्मसात् होकर विलीन ही हो गया। विजयनगर साम्राज्य के दिनों में यह किसी तरह जीवित रहा। कन्नौज का राजा हर्ष गुप्तों का वंशज था। उसके राजकाल (७ वीं शताब्दी) में बुद्ध धर्म राजकीय सहायता का प्रमुख अधिकारी रहा पर उसके बाद ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता जिसमें किसी सम्राट् ने इसे राजकीय धर्म की मान्यता दी हो। ८वीं शताब्दी में ब्राह्मण धर्म की प्रतिक्रिया का चरम रूप

शंकर के रूप में प्रकट हुआ जिसने परवर्ती बुद्ध धर्म के दर्शन को अपने यहाँ मिला लिया। इसके पहले शंकर के गुरु गौड़पाद ने भी अपनी पुस्तक मांडूक्यकारिका में यही किया था। यह वह युग था जबकि ब्राह्मण बौद्ध हो जाते थे और बौद्ध ब्राह्मण ताकि देखें कि किस आध्यात्मिक अनुशासन में अधिक गहराई है। भर्तृहरि इसके उज्ज्वल उदाहरण हैं। ऐसा समझा जाता है कि स्वयं गौड़पाद भी पहले बौद्ध थे और हम देखते हैं कि बौद्धों के विज्ञानवाद को ही नहीं आत्मसात् कर लिया गया पर प्रगतिशील शैव और वैष्णव सम्प्रदाय के हाथों पड़कर बौद्धों के शून्यवाद की भी वही गति हुई।[२५]

---

25. An unnoticed aspect of Gaudapad Mandukyukarika द्रष्टव्य, लेखक का एक लेख Annual of Bhandarkar Research Institute Vol. XXVI part I में प्रकाशित

———

भारतीय संस्कृति और उसकी समस्यायें

द्वितीय व्याख्यान

भारतोय संस्कृति का संगठित रूप

धर्म कला, संगीत, साहित्य, राजनीतिक तथा सामाजिक संस्थान में हिन्दू संस्कृति की अभिव्यक्ति का सर्वोत्तम रूप ८ वीं शताब्दी में आते २ निश्चित रूप से स्थापित हो गया। सामाजिक विभेद तो मनु के समय अर्थात् शुंग काल में ही स्थापित हो गए थे। पर दोनों प्रतिद्वन्द्वियों अर्थात् ब्राह्मण धर्म और बौद्ध धर्म के झगड़े अभी समाप्त नहीं हो सके थे। बौद्ध धर्म भी उपनिषदों के द्वारा प्रतिपादित सर्वश्रेष्ठ सत्य कैवल्य तथा सायुज्य भक्ति की शिक्षा देता है। इस बात को ठीक से हृदयंगम करने में १४ शताब्दियाँ लगीं। हैवेल का कहना है बौद्ध संघों के पतन का उत्तर-दायित्व क्षत्रियों की तलवारों पर नहीं जितना ब्राह्मणों की प्रतिभा पर है"[२६]। सच्ची बात तो यह है कि ये प्रतिद्वन्द्वी अपने दार्शनिक विचारों के लिए तर्क का ही आश्रय लेते थे पर उनको आध्यात्मिकता से भी मिला कर देखते थे। अतः, इसका अर्थ यह होता हैं कि चाहे उसे जिस नाम से पुकारिए वे आन्तरिक प्रेरणा के चरम महत्व को तो स्वीकार करते ही थे। यही वस्तु है कि सारे भारतीय दर्शन और धर्म को पार्श्वभूमिक एकता का आधार प्रस्तुत करती है जिसे कुछ लोग भूल जाते हैं। दुर्भाग्यवश ऐसे लोगों में कुछ भारतीय भी हैं, कुछ भारतीयों का ध्यान उपनिषद् के इस पहलू की ओर गया भी है पर वे उस पर जमे नहीं रह सके हैं। उपनि-

---

26. Aryan Rule in India, P. 157

षदों में कोई व्यवस्थित दर्शन नहीं है। व्यवस्थित रूप देने का काम तो सम्प्रदायों में हुआ है जिनके प्रवर्तकों ने उपनिषदों पर टीकाएं लिखी हैं। प्रत्येक सम्प्रदाय का अपना पृथक् दृष्टिकोण है। अद्वैतद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत,* प्रत्ययवाद, तथा प्रत्यक्षवाद आदि। अतः लोग सोचते हैं कि उपनिषदों का अपना दृष्टिकोण नहीं है। पर उसमें एक दृष्टिकोण है जो साम्प्रदायिक दृष्टिकोणों से अधिक व्यापक है और जिसे सबों ने मूल रूप में स्वीकार भी किया है। इसे अन्तर्मुखी ब्रह्मवाद कह सकते हैं।[२७] चाहे आत्मा शब्द का कोई भी अर्थ हो। सब सम्प्रदायों ने एक स्वर से स्वीकार किया है कि चरम सत्य की प्राप्ति अपने ही अन्दर होती है। चरम तत्व की प्राप्ति अपनी ही आत्मा में होती है। यह सर्वभूतात्माओं की आत्मा है, अथवा उनके समकक्ष है अथवा पृथक् है या तद्रूप ही है ये सब गौण और विस्तार की बातें हैं। इस बात को भूल जाने से भारतीय दर्शन तथा संस्कृति के मूल रूप को हम पहचान न सकेंगे। यह बात वैदान्तिक तथा परम्परा-पालक पद्धतियों के लिए ही लागू नहीं पर बौद्ध धर्म के लिए भी। साथ ही एक महत्वपूर्ण अर्थ में जैन धर्म के लिए भी। कारण कि इन दोनों और प्राचीन धर्मों में केवल वही अन्तर है कि ये वेदों का प्रमाण नहीं मानते। अब तो जैन विद्वान भी यह दावा करने लगे हैं कि उनके धर्म का मूल भी वेद

---

* वेदान्त के भिन्न भिन्न सम्प्रदायों के ये नाम हैं। शंकर का वेदान्त अद्वैत और रामानुज का वेदान्त विशिष्टाद्वैत कहलाता है। शंकर ब्रह्म सत्य, जगन्मिथ्या वाले सिद्धान्त को मानते हैं। शंकर का ब्रह्म निर्विशेष तथा निर्गुण है पर रामानुज का ब्रह्म चिद् चिद्विशिष्ट है। अतः विशिष्टाद्वैत कहलाता है। माधव का सिद्धान्त द्वैतवाद कहलाता है। ये ब्रह्म और जीव को एक नहीं मानते। द्वैताद्वैतवाद के प्रवर्तक निम्बार्क हैं जिसके अनुसार जीव अवस्था भेद से ब्रह्म के साथ भिन्न भी है और अभिन्न भी।

२७. द्रष्टव्य, ब्रह्मसूत्र ४, १, २।

में है। द वा क्रिया जाने लगा है कि वेदों में वर्णित ऋषभ राजर्षि प्रारम्भिक जैन गुरुओं में से एक थे। यहाँ तक कहा जाने लगा है कि शैव और वैष्णव धर्म एक ही थे।

साहित्य में भी उसी आध्यात्मिक गहराई को प्राप्त करने का प्रयत्न किया गया था। साहित्य ही क्यों, कोई भी ललित कला केवल मनोरंजन की वस्तु नहीं समझी जाती थी। इसका लक्ष्य सदा उच्च रहा, धार्मिक और आध्यात्मिक। अति प्रारम्भिक लेखकों के सामने यह बात स्पष्ट थी कि कविता का प्रभाव कितना संक्रामक और शैक्षणिक हो सकता है और लोगों को भारत धर्म या आर्य धर्म की ओर प्रेरित करने के लिए इसका उपयोग कितना लाभदायक हो सकता है। प्रतापरुद्रीयम् के रचयिता विद्यानाथ का कथन है कि वेदों की रचना शिक्षा प्रभु सम्मत हैं और पुराण सुहृद सम्मत है ये सदसद्विवेक का ज्ञान कराते हैं पर कविता तो कान्ता-सम्मत की तरह मुग्ध कर कार्य की ओर अग्रसर करती है। कविता का पाठक तथा रूपक का दर्शक नायक के साथ एक मनोवैज्ञानिक तादात्म्य स्थापित करते हुए उसका अनुकरण करता है। काव्य चमत्कार के द्वारा ही वह मुग्ध हो नायक के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है। अतः नायक का चरित्र चित्रण भारत धर्म के सिद्धान्तों के अनुरूप ही करना पड़ता था। बुद्ध चरित और सौन्दरानन्द के रचयिता बौद्ध धर्मावलम्बी अश्वघोष ने इस बात को खूब समझा था। इन्होंने बौद्धधर्म के जीवन-सम्बन्धी सिद्धान्तों के प्रचारार्थ ही अपनी पुस्तकों की रचना की थी। यही कारण है कि पुराणों और महाकाव्यों को वेदाङ्ग कहा जाता है। पुराणों में सृष्टि, प्रलय, राजवंशों तथा मनन्वन्तरों तथा उनकी सिद्धियों का वर्णन रहता है। * अतः उन्हें विश्व इतिहास का वृहद् कोष कह सकते हैं। अधिकांश पुराण किसी विशेष

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वतराणि च
वंशानुचरितं चैव पुराणं पंच लक्षणम्।

सम्प्रदाय देवता या राजवंश की प्रशंसा में लिखे गए थे। परन्तु सभी में एक ही सत्य का प्रतिपादन किया गया है। पर इतने व्यापक लक्ष्य के कारण ऐतिहासिक सामग्रियों के साथ दन्तकथाएं भी सम्मिलित हो गईं। जिन्हें हम महापुराण कहते हैं उनमें केवल पुराण ही नहीं पर महाकाव्यों के साथ वास्तविक ऐतिहासिक सामग्री भी सम्मिलित है। इतिहास की परिभाषा में कहा गया है कि एक ऐसी कथा है जिसमें धर्म अर्थ के साथ मोक्ष सम्बन्धी विचार भी जुड़े हों। महाकाव्य वह है जिसमें एक ही भाव की प्रधानता हो।

(साहित्यिक क्षेत्र में) भावों के सिद्धान्त का तथा रसानुभूति द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति की स्थापना के सिद्धान्त का प्रतिपादन भारतीय संस्कृति की विशिष्ट देन है। मानव अनुभूति के इस स्वरूप का आविष्करण हिन्दुओं ने आज से बहुत पहले ही किया था। परन्तु नाट्यशास्त्र के रचयिता भरत ने ही इस सिद्धान्त तथा उसकी व्यावहारात्मक कला को सर्वप्रथम व्यवस्थित रूप में उपस्थित किया। वे ही परवर्ती लेखकों के द्वारा प्रमाण रूप में स्वीकृत हुए। उनके कथनानुसार नव स्थायी भाव हैं। रति, हास्य, क्रोध, उत्साह, शोक, आश्चर्य, भय, जुगुप्सा और शम। उनके आश्रित रसों की संख्या भी ९ ही है और वे उन्हीं नामों से अभिहित होते हैं। इनमें शान्ति सर्वोच्च तथा शेष भावों का मूल है। कलाकार की कला जब किसी भाव को स्थायी बना देती है तब उसे रस संज्ञा मिलती है। इस रसानुभूति तथा भावों के उदात्तीकरण के द्वारा ब्रह्मानन्द अर्थात् ब्रह्म की प्राप्ति संभव हो सकती है। इस तरह हम देखते हैं कि साहित्य ही नहीं अपितु भिन्न भिन्न उपादानों वाले नृत्य, स्थापत्य, चित्रकला तथा संगीत आदि को भी ऐसा रूप दे दिया है कि वे भावों के उदात्तीकरण के साधन बन गए।

इस सम्बन्ध में प्राचीन हिदुओं ने शब्द ब्रह्म या नाद ब्रह्म नामक एक बहुत ही मनोरंजक तथा महत्वपूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। बाइबल में यह पढ़ने को अवश्य मिलता है कि (सृष्टि के)

प्रारम्भ में शब्द या लोगोस था। पर बाद में इस सिद्धान्त का कोई महत्व नहीं रह गया। यह भी पढ़ने को मिलता है कि प्राचीन यूनानियों में 'लोगोस' का अर्थ शब्द और बुद्धि दोनों होता था। भारत में इस सिद्धान्त का विकास आश्चर्यजनक रूप में हुआ। यदि लोगस ईश्वर से इतना समीप है तो उसके आनन्दमय स्वरूप के अंश की अवस्थिति उसमें होनी ही चाहिए। यह केवल शब्द और बुद्धि तक ही सीमित क्यों रहे और भाव को भी सम्मिलित क्यों न करे। लोगोस या शब्दब्रह्म के विविध रूप में यह सामान्य स्फोट या जाति स्फोट है और ध्वनि की आनन्द लहरी के रूप में यह यह राग स्फोट है। * अतः स्फोट के न्यूनातिन्यून तीन रूप हैं, वस्तु निष्ठ शब्द, तार्किक सामान्य और विविध भावमयी रागरागिनियाँ। अतः संगीत को ईश्वर प्राप्ति की साधना कहा जाता है अर्थात् यह लोगोस की अनुभूति मार्ग से ईश्वर प्राप्ति का मार्ग है। मूल ध्वनि अपनी आनन्द-मयी रागिनी है और सांसारिक रागों द्वारा उसी की अभिव्यक्ति होती है। इसे छोड़ अन्य ध्येय को लेकर चलने वाला संगीत छिछला और तुच्छ है। यह हमारे अस्तित्व के अन्तर्तल को छू नहीं सकता। संगीत शब्द ब्रह्म व्याप्य हमारी आत्मा के मूल्य में अवस्थित आनन्द की उपलब्धि के लिए है।

राजनीति और समाजसंगठन में भी ये ही उच्च आदर्श सदा सामने रहे। पूर्व, उसी तरह भारत की राजनीति और शासन व्यवस्था सम्बन्धी न जाने कितनी भ्रान्तियाँ प्रचलित हैं। राजाओं को निरंकुश तथा उत्पीड़क के रूप में चित्रित किया गया जिनके सामने त्रस्त प्रजा

एक ही शब्द के भिन्न भिन्न ढंग से उच्चरित होने पर भी अर्थग्रहण में एकता रहती है। अतः वैयाकरणों के मतानुसार शब्द नित्य होता है जिसे वे स्फोट कहते हैं (स्फुटत्य र्थोऽ स्मात्) । इस व्युत्पत्ति के अनुसार उच्चारण शब्द को उत्पन्न नहीं करता केवल उसका आविर्भाव करता है।

सिर नहीं उठा सकती थी। परन्तु भारत के सम्बन्ध में यह बात पूर्ण रूप से निभ्रन्ति नहीं है। इतना तो अवश्य ही है कि पश्चिम के लिए जिस रूप में लागू है उससे अधिक तो इसके लिए नहीं ही है। यह चर्चा हो चुकी है कि वर्णव्यवस्था का भारतवर्ष पर क्या प्रभाव पड़ा विशेषतः पृथक पृथक साम्राज्य के सम्राटों के पारस्परिक सम्बन्धों पर। महाभारत के शान्ति पर्व में जहाँ राज धर्म का वर्णन है और कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र ये दोनों ऐसी धारणा को निर्मूल प्रमाणित करते हैं।[३२] राजा विष्णु का अवतार माना जाता था। अतः प्रजा की उन्नति के लिए प्रयत्नशील होना एवं उन्हीं के सुख में अपना सुख समझना उनका कर्तव्य था। राजा केवल उनके सुख और दुख को ही नहीं परन्तु पाप और पुण्य का भी उत्तरदायी समझा जाता था। धर्म की रक्षा करना तथा उनके सामने एक आदर्श का स्थापन करना उसका कर्तव्य था। राजा को विश्वजित होने से पूर्व आत्मजित होना पड़ता था। कम ही देशों में हम पाते हैं कि नृपगण ऋषि होते और तपस्या-व्रती हो जाते थे। राजर्षि पद प्राप्त करना आर्य नृपों की महत्वाकांक्षा थी। अपनी वृद्धावस्था में अपने साम्राज्य का परित्याग कर चन्द्रगुप्त महान भी जैन साधु हो गया था। अशोक के पुत्रों ने विहारों का जीवन ग्रहण किया था और वह स्वयं बौद्ध हो गया था। हाँ, यह असत्य नहीं कि अनेक नृप अपने जीवन में असदाचारी रहे। और यह बात पूर्व के लिए ही नहीं पश्चिम के लिए भी उतनी ही सत्य है। तो भी हिन्दू राजत्व काल में ऐसे असदाचारी नृप को अधिक दिन तक राज्य करने का सौभाग्य न रहा। दूसरे नृप उनके कुशासन से लाभ उठाने की ताक में रहा करते थे। पश्चिमी लेखकों के वर्णन का आधार भारत में मुसलमान राजाओं के आचरण का निरीक्षण रहा है। नृपों के उच्च आदर्श, देश और

द्रष्टव्य Havell; Aryan Rule in India तथा R-C. Mazumdar; out lines of Indian History and Civilization

राजसभाओं का धार्मिक और आध्यात्मिक वातावरण, तथा अन्य नृपों की सतर्कता जो किसी राजा के शासन की गड़बड़ी से लाभ उठाने में तत्पर रहती थी, इन सबों के द्वारा नृपों के अत्याचार और निरंकुशता पर नियन्त्रण बहुत अंश में सफलतापूर्वक हो सकता था। हमें याद रखना चाहिए कि हिन्दू भारतवर्ष में गणतन्त्र की प्रणाली वर्तमान थी।

हम देख चुके हैं कि भारत की सामाजिक व्यवस्था में जाति-प्रथा का किस तरह विकास हुआ और किस प्रकार जाति व्यवस्था और आश्रम-व्यवस्था को धर्म पालन और आन्तरिक चैतन्योपलब्धि का उपयोगी साधन बना लिया गया। संभव है, यह साधन पूर्ण नहीं हो। परन्तु आर्यों को यही सुविधाजनक मालूम पड़ा कि विरोधी तत्वों का नाश कर एक नवीन व्यवस्था के निर्माण की अपेक्षा शान्ति-पूर्ण ढंग से हाथ आई वस्तु को ही सदाचार और आध्यात्म के रंग में रंग दिया जाय।

हिन्दू संस्कृति को विशेष रूप से आध्यात्मिक कहा जाता है पर इसका अर्थ यह नहीं लगाना चाहिए कि भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में भारत ने कुछ भी उल्लेखनीय कार्य नहीं किया। प्राचीन हिन्दुओं ने गणित शास्त्र पर पर्याप्त लिखा है और शून्य तथा दशमलव उनकी ही देन है। उन्होंने भ्रूण विज्ञान, शरीररचना विज्ञान, प्रजनन विज्ञान, पारा, लोह आदि रासायनिक औषधियों तथा शासन पद्धति, नगरपालिका संस्थाओं, कानून, युद्ध और अन्तर्राष्ट्रीय नियमों पर भी लिखा है। ललितकलाओं के सम्बन्ध में तो उनके आदर्श उच्चतम थे। बहुत से ग्रन्थों का अनुवाद चीनी और अरबी भाषाओं में हुआ था और अपने अनूदित रूप में वे विश्व के सारे सभ्य देशों में पहुँच सके थे।

प्रत्येक सांस्कृतिक व्यापार में भारत ने अपने सामने उच्चतम आदर्श और आध्यात्मिक दृष्टिकोण रखा था। अतः इसके बारे में लोगों के बीच एक और भ्रान्त धारणा चल पड़ी है कि भारत जटिल तपस्वियों का देश

है। वे जीवनानन्दोपभोग करना नहीं जानते थे। हेनरीबर[३३]का कहना है कि उनकी पार्थिव वस्तुओं से तटस्थता का वर्णन अतिरंजित रूप में किया जाता है। यह ध्यान रखना चाहिए कि हमारे साहित्य में प्रेम, शृंगार तथा स्त्रियों ने प्रमुख स्थान ले रखा है। इस आध्यात्मिकता का आन्तरिक उद्देश्य यही था कि हर तरह से हम जीवन की गहराई को देख सकें। संन्यासी शंकर ने अपने देवी स्तोत्र में इस भाव को जिस ढंग से प्रगट किया है उससे अच्छा और कोई नहीं कर सकता है। "मेरी वाणी आपका निरन्तर जाप करे, मेरे कार्यकलाप आपके अनुष्ठान रूप हों। मेरी प्रणति पर्याप्त आपकी प्रदक्षिणा और मेरा अशन वसन आपका बलि उपहार हो, मेरा आनन्द मेरी आत्मा का आपके प्रति आत्मसमर्पण हो, मैं जो कुछ करूं आपकी पूजा हो।"

यहां प्रत्येक वस्तु के त्याग का भी संकेत नहीं। यही कहा गया है कि प्रत्येक वस्तु को तत्व की दृष्टि से देखो, चाहे वह पिता माता और उदासीन तक के नाम से पुकारा जाय। भारतीय जीवन का आनन्दोपभोग करना जानते हैं और खूब करते हैं। छिछले और पतले आनन्द की प्राप्ति

---

33. Grabuska, Stern and Masson-Gursel, Ancient India p. XVI-XVII.

३४. आनन्द लहरी १२८

जपो जल्पः शिल्प य सकलमपि
मुद्रा विरचनं
गतिः प्रादक्षिण्यं भ्रमणमदना
द्याहुतविधिः।
प्रणामः संवेशः सुखमखिलमा
त्मार्पणदशा
सपर्यायस्तव भवतु यन्मे
विलसितम्।

उनका उद्देश्य नहीं। यह गंभीर और प्रगाढ़ हो और यह प्रगाढ़ता तभी प्राप्त है जब सारा व्यक्तित्व ही उसमें तल्लीन हो जाय। अतः भारतीय संगीत, साहित्य और अन्य ललित कलाओं के लिये वात्स्यायन के काम शास्त्र से बढ़कर दूसरा कोई प्रमाण नहीं हो सकता कि भारतीय जीवन के आनन्दोपभोग करने की कला से कितने विज्ञ थे।

इन्हीं कारणों से यह कहना कि भारतीय कला, साहित्य आदि धार्मिक हैं गलत तो नहीं है पर इस कथन से अभारतीय लोगों पर कितना और कैसा प्रभाव पड़ता है यह स्पष्ट नहीं होता। धार्मिक शब्द से यह अर्थ निकल सकता है कि यह विशुद्धतावादी, शुष्क, कर्कश और रसहीन है। वास्तव में ठीक इसके विपरीत इसमें भाव प्रवणता है, इसमें हमारी ऐन्द्रिय संवेदना का ख्याल रखा गया है और यह हृदयतत्वस्पर्शी है। मानव जाति के इतिहास में कला का उद्भव भावाभिव्यक्ति के रूप में हुआ होगा। भारत में इसे केवल मात्र भावाभिव्यक्ति के लिए ही नहीं रखा गया परन्तु भावों तथा उसकी अभिव्यक्ति का इस रूप में परिष्कार किया गया कि हमारे अन्दर महत् शक्ति की अभिव्यक्ति का साधन हो सका। उदाहरणार्थ, नृत्य नटराज शिव के रूप में स्थित सार्वभौमिक शक्ति की लय-युक्त प्रकम्पन की अभिव्यक्ति है।[३५] यही कारण है कि प्राचीन भारत नाट्य परम्परा के नृत्य में संवेदनशीलता तो प्रचुर मात्रा में है पर वे कामुक और इन्द्रियों की चाटुकारी करने वाले नहीं हैं। वे हृदय को स्पर्श करते हैं। हमारी निम्न प्रकृति को नहीं उकसाते। हां, यह भी नहीं कह सकते कि व्यावहारिक रूप में सारे भारतीय नृत्य इसी ऊंचे आदर्श से प्रेरित थे।

भारतीय संस्कृति की विशेषता क्या है? यह सौंदर्यमूलक है, बुद्धि मूलक है, व्यावहारिक या धार्मिक है? उसके लिए सबसे उपयुक्त शब्द होगा आध्यात्मपरक। धार्मिक शब्द से जिस भ्रान्ति की संभावना है

35. Havell, Aryan Rule in India, p. 239

उसका उल्लेख हो चुका है। धार्मिक शब्द से यह भी अर्थ निकल सकता है कि यह एक ऐसा संघबद्ध धर्म है जिसका संगठन किसी अतीत काल के ऐतिहासिक पुरुष के आधार पर किया गया हो। इस शब्द से किसी अतीत काल की सामाजिक व्यवस्था को कायम रखने की ध्वनि भी निकल सकती है। और इस अर्थ के समर्थन में मनु स्मृति प्रमाण रूप में उपस्थित की जा सकती है। पर स्मृतियाँ एक ही नहीं अनेक हैं जो विस्तार की बातों में परस्पर विरोधिनी हैं। ये इस बात के प्रमाण हैं कि सामाजिक विषयों में आर्यों के विचार प्रगतिशील थे। उपयोगितावाद का अर्थ दो प्रकार का हो सकता है संकुचित भी तथा व्यापक भी। इसका अर्थ यह लगाया जा सकता है कि यह संस्कृति आधिभौतिक समृद्धि की इच्छुक है जैसा कि अमेरिकन शब्द का अर्थ कभी कभी लगाया जाता है। भारतीय संस्कृति कभी भी ऐसी नहीं। यहां जीवन के चार उद्देश्य में से धर्म, अर्थ काम और मोक्ष में से धर्म एक के रूप में ग्रहण किया जाता है। पर इनमें मोक्ष सर्वश्रेष्ठ है। उपयोगिताबाद स्वतः पूर्ण आदर्श कभी नहीं है। हां, अर्थ की उपयोगिता है, पर किसके लिए? मनुष्य के लिए ही न। यही कारण है कि उपयोगितावाद को अपनी पूर्णता के लिए मानववाद की आवश्यकता है। पर मानवतावाद भी स्वतः पूर्ण नहीं और यह तब स्पष्ट हो जायगा जब हम यह प्रश्न उठायें कि आखिर मनुष्य क्या है। तब मानवतावाद दर्शन की सार्थकता और महत्व इस पर निर्भर करता है कि मनुष्य को हम किस रूप में ग्रहण करते हैं। क्या मनुष्य समाज का अंग मात्र है और उसे सामाजिकता की अपेक्षा में ही समझा जा सकता है? अथवा वह एक शरीरधारी जन्तु है जिसे प्राणि बिज्ञान तथा शरीर विज्ञान के शब्दों में समझा जा सकता है? अथवा वह परिमाणुओं का समूह है और रसायनशास्त्र तथा भौतिकशास्त्र की सहायता से समझा जाने वाला प्राणी? भारतीय दर्शन इन सब दृष्टिबिन्दुओं को स्वीकार करता है पर फिर भी इससे आगे बढ़कर उसे विश्व आत्मा से तादात्म्य कर देता है। तब क्या कहें कि भारतीय संस्कृति बुद्धि प्रधान है? पर केवल मात्र बुद्धि ही प्रधान

नहीं। बुद्धि जीवन की सेविका है और हमारा जीवन अनन्त शक्ति की सीमा से सटा हुआ है। यही कारण है कि भारतीय संस्कृति का प्रत्येक पहलू दर्शन प्रधान हो गया है। पर यह दार्शनिकता मात्र बुद्धिवादिता ही नहीं जैसा भारतीय विचार की व्याख्या करने वाले कुछ लोग समझते हैं। यह जीवन दर्शन है, मात्र बुद्धिविलास नहीं। जीवनाभिव्यक्ति के आदर्श और पूर्ण रूप को लेकर चलने वाला दर्शन है नृत्य की पूर्णता और साहित्य की पूर्णता का। कला आदि की पूर्णता का मापदण्ड यही है कि वह कहां तक गहराई में जाकर छूती है। भारतीय धर्म के दर्शन प्रधान होने का यही कारण है। मनुष्य को दार्शनिक सत्य की अवगति मात्र ही न होना चाहिए पर उसे तदाकार परिणत होना चाहिए। तिस पर भी तर्क को अप्रतिष्ठ मानते हुए भी भारतीय दर्शन पद्धति विवेक प्रधान है। यहां तक कि यह तर्क कि वह सीमा पर पहुंच गई है। अतः कभी कभी भारतीय धर्म को संशयवादी भी कहा जा सकता है।

कुछ पश्चिमीय लेखकों ने भारतीय धर्म को ही नहीं, सब पौर्वात्य धर्मों को सौंदर्य भावमूलक कहा है। सौंदर्य भाव मूलक शब्द से यह अर्थ निकल सकता है कि भारतीय सौंदर्यमूलकता के भाव को संतोष प्रदान करने वाले सिद्धान्त को मानने वाले हैं। यह अर्थ अंशतः सत्य और अंशतः मिथ्या भी है। पूजा का जहां तक प्रश्न है पूजागृह को अधिकाधिक अलंकृत करने का प्रयत्न होता है। पर मन्दिरों की पूजा विशेषतः शैव मन्दिरों की बहुत ही गंभीर होती है। हमें याद रखना होगा कि हिन्दू धर्मानुसार वाह्य पूजा अपनी आत्मा का मनोवैज्ञानिक उदात्तीकरण रूप

---

३६. Northrop. Meeting of East and west, p. 403. व्यक्तिगत वार्तालाप के दौरान में प्र० नार्थरोप ने मुझ से जरूर कहा था कि उनका मतलब वह नहीं जिसके विरुद्ध हम लोग आपत्ति करते हैं। फिर भी कुछ पाठकों में इस तरह भ्रम हो जाने की संभावना तो है ही।

है। जब तक सार्वभौमिक आत्मा को उपलब्ध नहीं होती यह उदात्तीकरण की क्रिया कितने ही रूप धारण कर सकती है, धार्मिक, भावनात्मक और बौद्धिक। ये सब साधना के विविध अंग हैं। आन्तरिक शक्ति की छाया के स्पर्श में जीवन व्यतीत करना ही योग है। भारतीय धर्म ने इस मनोवैज्ञानिक महत्व को सदा सामने रखा है। अतः बाहर के लोगों को सौन्दर्यमूलक जान पड़ता है। पर सौन्दर्यमूलक शब्द भ्रामक है। इससे यह अर्थ निकल सकता है कि यह मात्र ऐन्द्रिय है अथवा इसका संबन्ध केवल सौन्दर्य से है। भारतीय धर्म इन दोनों या किसी एक से सीमित नहीं।

भाव मूलक से यह भी अर्थ निकल सकता है कि भारतीय धर्म और दर्शन दोनों अनैतिक हैं। वास्तव में ऐसी आलोचना पश्चिमीय लेखकों के द्वारा बहुत दिनों से होती आ रही है।[३७] यह कहा जाता है कि भारत में अनेक बड़ी-बड़ी दार्शनिक पद्धतियों का आविष्कार हुआ पर धर्म की एक भी पद्धति का नहीं। यह भी कहा जाता है कि भारतीय अपने व्यवहार में साधनानिष्ठ और तपोनिष्ठ होते हुए भी उनके आचरण अनैतिक होते हैं। इस दोषारोपण के उत्तर में पाठकों के सामने मैगास्थनीज से ले कर एबे डुबोइस आदि यूरोपीय लेखकों की रचनाओं को प्रमाण के रूप में उपस्थित किया जा सकता है जिनकी राय इससे सर्वथा भिन्न थी। यह बात सत्य है कि भारतीय, चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान, अपना तादात्म्य यूरोपनिवासियों के सामाजिक नियमों के साथ नहीं कर सकते। पर यूरोपनिवासी भी यह भूल जाते हैं कि उनके नैतिक नियम अनेक नियमों में से महज एक हैं। यदि नैतिकता का अर्थ अपनी इच्छाओं और

---

३७. द्रष्टव्य, Sir Charles Elliot, Hinduism and Buddhism vol.i p. XVI तथा Mackenzie, Ethics of India. Hopkins महोदय ने अपनी पुस्तक Ethics of India में भिन्न विचार प्रकट किये हैं।

वासनाओं पर नियन्त्रण रखने से है अर्थात् आत्म-संयम से है तो भारतीय दर्शन और धर्म से बढ़कर किसी ने इस पर अधिक जोर नहीं दिया है। भारतीय साहित्य में न जाने कितनी बार इस बात को दोहराया गया है कि इन्द्रियाँ अश्व हैं और बुद्धि बल्गा और मनुष्य को इस वल्गा के सहारे इन्द्रियों पर नियंत्रण रख उन्हें इतस्ततः भटकने से रोकना चाहिए।[३८] शम और नियम के लिए आत्म संयम आध्यात्मिक प्रगति के लिए एक अनिवार्य अंग स्वीकृत किया गया है।[३९] तिस पर भी भारतीय संस्कृति अपने शुद्ध स्वरूप में न तो मात्र सौन्दर्य मूलक है और न मात्र नीति-मूलक। प्रत्येक भारतवासी के लिए अपनी जाति और आश्रम के द्वारा निर्धारित नियमों का पालन करना आवश्यक कर्तव्य है। परन्तु यह कर्तव्य पालन अपने में साध्य नहीं। उनका अनुष्ठान एक उच्च उद्देश्य के लिए किया जाता है। अर्थात् आत्मा में एक सार्वभौमिक आत्मा की उपलब्धि के लिए। हां एक बात माननी पड़ेगी। अपने को मठों और विहारों तक ही सीमित रखने वाले बौद्धधर्म ने जब अपने संन्यास के आदर्श को स्थापित किया तब उसमें सामाजिक नियमों का कोई स्थान न था। और पार्थिव आत्म संयम को ही सब महत्व दिया गया था। इसको अच्छी तरह यह कह कर प्रकट किया जा सकता है कि बुद्ध धर्म में आत्म संयम को सामाजिक गुण की अपेक्षा मनोवैज्ञानिक महत्व के लिए ही अधिक ग्रहण किया गया था। परन्तु ब्राह्मण धर्म ने इसके दोनों पहलुओं पर बराबर जोर दिया था। यह सत्य है कि ब्राह्मण धर्म में संन्यास को चतुर्थ आश्रम के रूप में ग्रहण कर लेने के बाद इन प्रवृत्तियों को किसी उद्देश्य के लिए

३८. कठोपनिषद्। आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च।
बुद्धिं सारथिं विद्धि मनः प्रगह मेव च।
इन्द्रियाणि हयानाहुः विषयान् तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रिय मनोयुक्त भोक्तेत्याहुः मनीषिणः।

३९. तत्राहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्या परिग्रहाः यमाः।
शौच सन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमाः।

नियोजित करने वाली शक्ति को नष्कर्म्य के सिद्धान्तों के रूप में बदल दिया गया। परन्तु वह अन्तिम अवस्था की बात थी और सामाजिक आदर्श को इससे कुछ भी हानि नहीं पहुँचती थी। आश्रम व्यवस्था में इनकी पूरी तरह से रक्षा की गई है। हिन्दुओं के सामाजिक नियमों में सब आश्रमों और सब जातियों के कर्तव्य की विस्तारपूर्वक-चर्चा की गई है परन्तु बौद्धों के विनयपिटक में मुख्यतः भिक्षु और भिक्षुणियों के ही कर्त्तव्य का उल्लेख है। श्रावकों के कर्तव्यों का उल्लेख यों ही चलते रूप में कर दिया गया हैं। परन्तु नैतिकता के प्रति बुद्ध मतावलम्बियों के इस दृष्टिकोण के प्रभाव से प्राचीन हिन्दू धर्म भी अछूता न रह सका।

ऊपर की विचार धारा के अनुसार हम कह सकते हैं कि कोई संस्कृति जो अपने सामाजिक आदेशों में निहित नैतिक मूल्यों को महत्व देती है वह धार्मिक है। ऐसी संस्कृति में धर्म का महत्व नैतिकता को लेकर ही हैं। उदाहरण के लिए जब धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए हम कहते हैं कि एक धर्म दूसरे से श्रेष्ठ है क्योंकि उसके देवगण अधिक नैतिक रूप में चित्रित किए गये हैं तब हम मन ही मन में नैतिक मूल्यों को अधिक महत्व दे रहे होते हैं। परन्तु जब यह प्रश्न आता है कि कौन से माप दण्ड अधिक महत्वपूर्ण हैं तो नीति उसका उत्तार नहीं दे सकती। इससे इसके बीजातीतत्व का पता चलता है।[४०] पश्चिमी दार्शनिक कहेंगे—यह तो तत्ववाद की बात हो गई परन्तु भारतीय कहेंगे कि उसके आदर्श अब आध्यात्मिक हो गये हैं। सामाजिक अनुशासन तथा आध्यात्मिक दोनों क्षेत्रों में आत्मसंयम की आवश्यकता है। अतः नीति की व्यवस्था आत्म संयम विज्ञान के रूप में की जाय तब विभिन्न विभिन्न नीतियों का पृथकत्व इसी से जाना जा सकता है कि उस आत्म संयम का प्रयोग किस क्षेत्र में हो रहा है। इसमें महत्वपूर्ण बात

---

40. द्रष्टव्य Bradley, Ethical Studies इसी विषय पर हेगेल के विचारों की भी तुलना कीजिए

देखने की यह है कि इन क्षेत्रों को सर्वथा पृथक् रूप में न ग्रहण किया जाय परन्तु एक सम्पूर्ण जीवन योजना में उनका उचित स्थान निर्धारित किया जाय। कहने का यह अर्थ नहीं कि इन अवस्थाओं को जाति और आश्रम के रूप में इनकी प्राचीन दृढ़ता के साथ ग्रहण किया जाय। परन्तु आवश्यकता यह है कि जीवन को इस तरह विभक्त किया जाय कि उसके सामाजिक मूल्यों की हानि न हो और साथ ही उनका उदात्तीकरण इस रूप में हो जाय कि वे आगे चल कर आध्यात्मिक मूल्यों से तादात्म्य कर सकें। भारतीय विचारधारा के वे आलोचक जो यह कहते हैं कि यह अनैतिक है वे यह नहीं देखते कि नीति स्वतःपूर्ण नहीं पर स्वरूपातीत है। प्लेटों ने अपनी पुस्तक Republic में जैसा नैतिक विश्लेषण का विवरण दिया है उसे स्वीकार कर लेने पर भी हमें मानव और समाज के परे जाकर विचार करना होगा तभी हम मानव प्रकृति को पूर्ण रूप से समझ सकेंगे। ऐसी अवस्था में समाज के नेताओं के सामने समस्या यह आयेगी कि सामाजिक मूल्यों की उपलब्धि करने वाली नीति तथा आध्यात्मिक मूल्यों को उपलब्ध करने वाली नीति में समन्वय किस तरह किया जाय। यदि एक से दूसरे का काम लेने का प्रयत्न नहीं किया जाय तो दोनों में कोई विरोध नहीं। [४१] बौद्ध धर्म की तरह यदि आत्म संयम को सामाजिक मूल्यों से अलग रखकर केवल आध्यात्मिक मूल्यों की उपलब्धि का साधन माना जाय तो इसका परिणाम हमारी समाजोपयोगी प्रवृत्तियों का मानसिक अवरोध हो सकता है। यदि आत्म संयम को केवल सामाजिक मूल्यों के लिए ही नियोजित किया जाय तो यह प्रचलित सामाजिक नियमों का अक्षरशः पालन का रूप ले सकता है, समाज की प्रगति अवरुद्ध हो सकती है और जहां समाज

४१. यह संघर्ष भारत में ही नहीं परन्तु मध्यकालीन योरप में भी वर्तमान था जहाँ के कैथोलिक मठों में मानव रत्न आकर्षित हो कर जाते थे।

के विभिन्न दलों के नियमों में विभिन्नता हो वहाँ समाजिक संघर्ष का भी दृश्य उपस्थित हो सकता है। सामाजिक मूल्यों की मूर्तता में आध्यात्मिक मूल्यों की पारंगता नहीं होती। अतः व्यक्ति और समाज दोनों के जीवन में दोनों मूल्यों को उचित स्थान देना चाहिए।

भारतीय संस्कृति द्वारा उपलब्ध सर्वोच्च आध्यात्मिकता किस तरह कलाओं साहित्य और जन साधारण के जीवन में प्रतिबिम्बित हुई—इसकी चर्चा हो चुकी है। भारत संगीत के घनत्व और गहराई को आज तक कहीं का संगीत नहीं पा सका। परन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि इसका लक्ष्य आनन्दोपलब्धि नहीं। लोगोस के रूप में ब्रह्म के स्वभाव प्रतिफलन को ही आनन्द कहते हैं। ब्रह्म आनन्द स्वरूप है। संगीत के द्वारा हमारी बुद्धि में इसका प्रतिविम्ब पड़ता है। अतः आत्मा को आनन्दाभिभूत करना ही संगीत का लक्ष्य है। ललित कला के रूप में संगीत का हमारे आध्यात्मिक जीवन से बहुत ही गहरा सम्बन्ध है। अन्य कलाएँ हैं जिनका सम्बन्ध इतना गहरा नहीं है पर उनका भी आदर्श वही है। स्थापत्य के क्षेत्र में विशेषतः मन्दिर निर्माण में उनके निर्माण की मूल प्रेरणा को तब तक नहीं समझ सकते यदि हम भूल जायं कि सर्वोच्च आध्यात्मिक आविष्कारों के चलते हिन्दुओं ने प्राचीन सम्प्रदाय तथा उसकी पूजा विधि का परित्याग नहीं किया है परन्तु उन्हीं का सिद्धि प्रक्रिया के संकेत के रूप में प्रयोग किया है। अतः बाह्य रूप से तो मन्दिरों में कुछ छोटे मोटे देवी देवताओं तथा पूजा विधियों का बोलवाला अवश्य है परन्तु अन्दर तो पवित्रादपिपवित्र का निवास है। यदि हम सब अन्य देवताओं को केवल अलंकरण को रूप में ही देखें तो मन्दिर निर्माण के आन्तरिक अर्थ को नहीं पा सकेंगे। ऐसा करना इतिहास को भुला देना होगा और तब हम यह निर्णय देकर कि यह संगीत योजना तथा समन्वय स्थापना का असफल प्रयत्न है भूल करेंगे। पर सच्ची बात तो यह है कि वे समन्वय साधन के पूर्ण उदाहरण हैं जिसने किसी चीज को नष्ट न कर बिना अपमानित

किये अनेकों पूजा पद्धतियों का उदात्तीकरण कर दिया है। उदाहरणार्थ चिदम्बरम् के मन्दिरों में ऐसे अनेक देवी देवताओं की अवस्थिति अलंकरण के रूप में पाई जाती है पर अन्दर पवित्रतम शुद्ध आकाश का निवास है—मात्र अनस्तित्व। चाहे किसी का मन्दिर हो शिवा के आकाश रूप में या किसी और तत्व के रूप में, चाहे वह विष्णु के किसी रूप का हो, एक ही सिद्धान्त का पालन किया जाता है। पुराणों का इस दृष्टि से अध्ययन पर्याप्त मनोरंजक होगा कि देव एक दूसरे को किस तरह निराकृत करते गये परन्तु बहिष्कृत देवों को मन्दिर के समीप या उनके ऊपर कोई स्थान दिया गया अवश्य।

चित्र कला और मूर्ति कला में भी हम इसी आध्यात्मिक प्रेरणा का प्रतिफलन पाते हैं। बुद्ध की मूर्तियाँ आन्तरिक शान्ति की महिमा से स्फुरित हैं तथा उनसे आनन्द की ज्योति विकीर्ण होती है—यह अति प्रसिद्ध बात है। यह प्रकृतिवाद नहीं, यथार्थवाद नहीं, मानवीय आकर्षण तथा यथातथ्यता भी नहीं, यह आदर्शवाद है, उदात्तीकरण हैं, आध्यात्मिक रूपावतरण है और आनन्द है जो सर्वोदात्त आदर्श के रूप में कलाकार को प्रेरित करता रहता है। ध्येय तो सौन्दर्यमूलक प्रभाव उत्पन्न ही करना है पर वे आध्यात्मिक प्रभाव बन जाते हैं। भारतीय कला को प्रायः धार्मिक और रहस्यवादी कहा जाता है। परन्तु ये दोनों शब्द इसके महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक और बुद्धिमूलक पहलू को स्पष्ट नहीं करते। यहां भी आध्यात्मिक ही कहना ठीक है। क्योंकि यह कम भ्रामक शब्द है।[४२]

हम अधिकारपूर्वक कह सकते हैं कि भारतीय संस्कृति की मुख्य-मुख्य विशेषताएँ ई. पू. चौथी शताब्दी तक प्रगट हो गईं थी और ई. पश्चात्

---

४२. कला सम्बन्धी विस्तृत जानकारी के लिये ये ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं। Havell, Indian Sculpture and Painting तथा The Ideals of Indian Art. तथा A. K. Coomarswamy: National Idealism and Transformation of Nature in Art.

की चौथी शताब्दी तक पूर्ण विकास को प्राप्त हो गई थीं। इस संस्कृति ने अपने मौलिक रूप को पश्चिम के प्रवेश तक सुरक्षित रखा। पश्चिम के ईसाई धर्म के रूप में नहीं, कारण कि ईसाई धर्म का सारतत्व जो ईश्वर के सान्निध्य में ही आनन्द की प्राप्ति संभव मानता है वह तो भारतीय नहीं। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है सब धर्मों का मूल उत्पादन भारतीय धर्म से हुआ है। यहां तक कि इस्लाम, ईसाई धर्म और कुछ लोग तो टायोइज्म* को भी भारतीय धर्म से ही उत्पन्न मानते हैं। हमने इस बात की चर्चा ऊपर की है कि हजारों वर्ष पहले मोहन जोदड़ों सभ्यता के पूर्व भी दक्षिण अमेरिका में हिन्दू धर्म का प्रचार था इस बात की संभावना है। मुसलमानों और ईसाइयों को छोड़ कर एशिया के प्रायः सब लोग आज भी हिन्दू धर्म को अपना आध्यात्मिक स्रोत मानते हैं। हां, इस बात का निश्चय करना कठिन है जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कि आन्तरिक पूजा के रूप में धर्म की स्थापना आर्यों द्वारा हुई थी अथवा आर्यों ने अपने पूर्व निवासियों से सीखकर इसे अपना लिया था अथवा प्राचीन युग में विश्व में सर्वत्र यह प्रचलित था जैसा कि ग्रीस के ओरफिक सम्प्रदाय× से प्रमाणित होता है। परन्तु यह निश्चित है कि सर्वप्रथम भारत में ही यौगिक साधना और आन्तरिक पूजा का विश्लेषण हुआ था। यहां ही उसकी पद्धति को व्यवस्थित किया गया था और उसके आध्यात्मिक सिद्धान्त निर्णीत हुए और देश की संस्कृति के समन्वयात्मक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किये गये थे। यह एक जीवित सिद्धान्त है।

---

*टायोइज्म-चीन के प्रसिद्ध दार्शनिक लाओ जुके द्वारा प्रतिपादित दर्शन का नाम। टाओ का अर्थ मार्ग है। यह दर्शन बौद्धों के निर्वाण तथा शंकर के अद्वैत वेदान्त से कुछ अंशों में मिलता जुलता है। ताओ का समय निश्चित नहीं है। कुछ लोग उन्हें बुद्ध से भी पूर्ववर्ती मानते हैं।

×प्राचीन ग्रीस में अरफियस द्वारा परवर्तित एक रहस्यवादी सम्प्रदाय का नाम

इसका कोई आकार नहीं रूपर पों के आदान प्रदान में यह क्रियाशील है और नए रूपों में स्थायित्व भर देने की इसमें शक्ति है, चाहे वे रूप सामाजिक हों, धार्मिक हों, राजनैतिक हों, कलात्मक हों या साहित्यिक।

यह कहना भूल है कि भारतीय संस्कृति किसी खास सम्प्रदाय, जाति या प्रान्त की सम्पत्ति है। वास्तव में जब आन्तरिक सूक्ष्म तत्व की महत्ता को एक बार स्वीकार कर लिया गया तब सब सम्प्रदायों को सूक्ष्म भाव से विचार करने की शिक्षा मिली। सारी जातियों को मनोनिग्रह की शिक्षा दी गई। यद्यपि कुछ को वेदाध्ययन के अधिकार से वंचित रखा गया पर व्यवहार में इस निषेध का इतना ही अर्थ था कि वे यज्ञों में पौरोहित्य नहीं कर सकते थे। आध्यात्मिक साधना में इससे कुछ भी बाधा नहीं पड़ती थी। मातृ-प्रधान सम्प्रदायों ने भी एक अति व्यवस्थित दर्शन तथा आध्यात्मिक पद्धति का विकास कर लिया था जिससे पंचम वर्ण के लोग भी वंचित नहीं किये गए थे।[४३] कहा जाता है शंकर ने भी इसकी साधना की थी और शक्तिसम्प्रदाय के एक प्रामाणिक ग्रन्थ प्रपंचसारतंत्र की उन्होंने रचना भी की थी। पुराण और संस्कृत साहित्य के अध्ययन की स्तन्त्रता सब लोगों को थी। संगीत, नृत्य तथा मूर्तिकला की साधना करने का अधिकार सब को था यद्यपि कुछ कलाएं कुछ जातियों के लिए पैतृक जीविका के रूप में स्वीकृत कर ली गई थीं।

जिन आध्यात्मिक तत्वों की नींव पर हिन्दू धर्म का निर्माण हुआ है और जिनके आधार को उसने कभी नहीं छोड़ा है वे सब प्राचीन धर्मों और संस्कृतियों के अनिवार्य अंग हैं और उनका महत्व सार्वभौमिक है। सांस्कृतिक स्थिरता और प्रगति के लिए इसको महत्व देकर हिन्दू धर्म ने अपने सार्वभौम रूप को अक्षुण्ण रखा है। परन्तु, जैसा हमने ऊपर कहा है, कि सार्वभौमिकता के इस दावे में बुद्ध धर्म इससे भी एक पग आगे बढ़ गया है। इसने हर वातावरण और हर समाज के लिए अपने को अनुरूप

---

४३. द्रष्टव्य Woodroffe तथा Avalon के ग्रंथ

बना डाला । इसने कभी भी बुद्ध धर्म ग्रहण करने वालों पर सामाजिक नियमों को लादने का प्रयत्न नहीं किया । इस रूप में वह इस्लाम और ईसाई धर्म जैसे अपने मत का प्रचार करने वाले धर्मों से भिन्न है । इन दोनों धर्मों के संगठित रूप का मूल यहूदी धर्म है जिसका रूप साम्प्रदायिक है । यहूदियों का ईश्वर एक विशेष सम्प्रदाय का देवता या । वह एक सम्प्रदाय का मित्र और शेष सम्प्रदायों का शत्रु था । आगे चलकर ईसाई धर्म का साम्प्रदायिक रूप बहुत कुछ झड़ गया और वह सार्वभौमिक रूप का दावा करने लगा था परन्तु तिस पर भी वह इस सिद्धान्त से चिपका ही रहा कि मोक्ष की प्राप्ति ईसाई के द्वारा ही हो सकती है । अतः वह अपने संकुचित दृष्टिकोण से पूर्ण रूपेण मुक्त नहीं हो सका । इस्लाम धर्म ने भी सार्वभौमिक रूप धारण करने का प्रयत्न किया और अरब के बाहर उसने अधिक प्रचार किया परन्तु तो भी इस्लाम धर्म के मानने वालों को कुछ विशेषाधिकार देकर दूसरों को उन अधिकारों से वंचित रखा गया ही । इस तरह उसमें भी कुछ न कुछ अनुदारता लगी ही रही । परन्तु हिन्दू धर्म की उत्पत्ति प्राकृतिक शक्तियों की उपासना को लेकर मनोवैज्ञानिक साधनों के आधार पर हुई है । यही कारण है कि प्रारम्भिक आर्यों को मंदिर और मूर्तियों की आवश्यकता नहीं पड़ी । विश्व के धर्मों के इतिहास में यह एक बहुत ही मनोरंजक तथ्य है ।[४४] इस तरह उनका धर्म इस्लाम से कहीं ऊपर था । जैसा मारीवन ने कहा है कि धर्म ही आगे विकसित हो कर विज्ञान और बुद्धिवाद का रूप धारण कर लेता है ।[४५] और यह बात सही है कि हिन्दू धर्म ने अपनी मनोवैज्ञानिक पद्धति को अच्छी तरह व्यवस्थित कर लिया था और बुद्धिवाद के आधार पर ही उसका निर्माण हुआ था । जिस तरह विज्ञान के क्षेत्र में प्रत्येक प्रयोग के पीछे एक सिद्धांत रहता है उसी तरह भारतीय धर्म के पीछे सदा एक दार्शनिक सिद्धान्त

---

44. Havell, Aryan Rule in India; p. 117

45. History of Philosophy p.70.

रहा है। हिन्दू धर्म की यह विशेषता है कि सिद्धान्त और प्रयोग दोनों का इसमें साथ ही साथ विकास हुआ परन्तु ईसाई और इस्लाम धर्म मे दाशनिक सिद्धान्त यूनानियों से लेकर बाद में जोड़े गए। हिन्दू धर्म कभी भी इस बात का दावा नहीं करता कि सत्योपलब्धि किसी पुरुष विशेष या धर्म विशेष का एकाधिपत्य है। वह स्पष्ट शब्दों में कहता है कि वह प्रत्येक इच्छा करने वाले को प्राप्त हो सकता है जो साधन करने के लिए तैयार है। अतः हिन्दू धर्म में सचमुच एक सार्वभौमिक तत्व है कोई खास संकुचित सिद्धान्त नहीं। इसकी जातियां मूल रूप में सामाजिक समूह के आधार पर बनी थीं जिन्हें अपने व्यक्तित्व को सुरक्षित करने तथा साथ ही में अपने देवता तथा सम्प्रदाय को आध्यात्मिक रंग में रँग देने की अनुमति थी। हिन्दू धर्म या बुद्ध धर्म यहां तक कि जैन धर्म भी प्रति बोधित धर्म नहीं था जिसका दावा यह है कि किसी अतीत काल में किसी ऐतिहासिक पुरुष के सामने ईश्वर का साक्षात्कार हो गया था। सब यही कहते हैं कि सत्य या ईश्वर का साक्षात्कार करना सभी के लिए संभव है। वह धर्म कभी भी सार्वभौमिकता का दावा नहीं कर सकता जो इसमें विश्वास नहीं करता है कि सारी मानवता सत्य की अधिकारिणी हो सकती है।

आशा है कि अब यह बात स्पष्ट हो गई होगी कि एक विश्वव्यापी संस्कृति के लिए भारतीय संस्कृति के सिद्धांतों का कितना महत्व है। जब तक धर्म को बौद्धिक आधार नहीं मिलता है और इसके आध्यात्मिक तत्वों को ऐतिहासिक, सामाजिक रूपों से स्वतंत्र नहीं कर दिया जाता है तब तक धार्मिक युद्धों को समाप्त नहीं किया जा सकता। हिन्दू धर्म ने इस ओर मार्ग-प्रदर्शन किया है यद्यपि यह प्रश्न हो सकता है कि इसने कहां तक अपने सिद्धान्तों का बराबर प्रतिपालन किया है परन्तु इसमें संदेह नहीं कि संस्कृति की प्रत्येक शाखा में इसने इस सिद्धांत का प्रयोग किया है और उसे विभिन्न सम्प्रदायों में शान्ति और परस्पर सहिष्णुता की

उपलब्धि में नहीं परन्तु आध्यात्मिक सिद्धान्त के व्यापकत्व के अन्दर उनकी एकता की उपलब्धि में भी उसे बहुत कुछ सफलता मिली है। हमारे सामने एक ऐसा उदाहरण है कि जिसके आधार पर हम सामाजिक संघर्षों को दूर कर विश्व के लिए एक संगठित संस्कृति का निर्माण कर सकते हैं। मानव और मानवीय मूल्यों की अवहेलना नहीं होनी चाहिए परन्तु उनके आगे जाकर हमें देखना चाहिए ताकि हम उनकी रक्षा करने में समर्थ हो सकें। इसके दो कारण हैं प्रथमतः कि मानवीय मूल्य समूह और व्यक्ति के सापेक्षिक हैं और द्वितीयतः, यह कि यदि हम निगमनात्मक पद्धति से सब संस्कृतियों में से वर्तमान तत्वों को चुन भी लें तो इसका परिणाम यह होगा कि हमारी उच्च संस्कृतियों के सामने एक निम्न कोटि की संस्कृति की स्थापना होगी और इस तरह आगे बढ़ने की प्रेरणा समाप्त हो जायगी। यह हमें भूलना नहीं चाहिए कि किसी भी सामाजिक अध्ययन में हम आदर्श के प्रश्नों को शुद्ध निगमनात्मक या मनोवैज्ञानिक पहलू से पृथक् नहीं कर सकते [४६] और इसमें कोई विवाद नहीं कि आध्यात्मिक से बढ़कर कोई भी आदर्श अधिक सार्वभौमिक नहीं हो सकता।

भारतीय संस्कृति को आध्यात्मिक बनाने में आर्यों की प्रतिभा ने बहुत ही महत्वपूर्ण काम किया है। आर्य जहां कहीं भी रहे बौद्धिक और बुद्धिवादी बने रहे। भारतवर्ष में आन्तरिक आध्यात्मिक अनुभूति को बौद्धिक रूप दिया गया, उसके सिद्धान्तों को स्पष्ट किया गया और मनोवैज्ञानिक रूप दिया गया नहीं तो वह महज़ उद्धारों और अन्य विश्वासों के रूप में रह जाती। बाद में इन सिद्धान्तों का प्रयोग प्रत्येक सांस्कृतिक आन्दोलन की शाखाओं में किया गया। बहुत हद तक इस संस्कृति को विकसित होने के लिए भारत के भौगोलिक पृथकत्व ने भी अवसर दिया क्योंकि भारत को दक्षिण में समुद्र ने और उत्तर में हिमालय ने सुरक्षित कर रक्खा था। हिन्दू धर्म ने बाहर से बहुत ही कम तत्व

४६. द्रष्टव्य Murphy Experimental Social Psychology.

लिए हैं। जहां तक आध्यात्मिकता का प्रश्न है इस्लाम और ईसाई धर्म का इसमें कुछ भी अनुदान नहीं परन्तु कुछ सामाजिक सुधारों में और मूर्ति पूजा के वहिष्कार जैसी पूजा पद्धतियों में उनका जरूर कुछ प्रभाव है परन्तु ये सुधार भी यही कह कर स्वीकृत किए गए कि पूर्व में भी हिन्दू धर्म में इसकी स्वीकृति थी।। प्रत्येक सुधार का मूल अतीत में खोजा गया। जो आदमी यह कहता है कि ऐकश्वरवाद और भक्तिवाद हिन्दू धर्म में इस्लाम और ईसाई धर्म के प्रभाव से आया वह हिन्दू धर्म के इतिहास की अवहेलना करता है। भक्ति की सर्वश्रेष्ठ पद्धति की स्थापना करने वाले पंचरात्र और भागवत सम्प्रदाय ईसाई धर्म से कहीं प्राचीन हैं।

विश्व की संस्कृति के निर्माण में भारतीय संस्कृति का अवदान सचमुच ही बहुत महत्वपूर्ण रहा है। इसके द्वारा विश्व के अन्य धर्मों ने आध्यात्मिक तत्व की प्राप्ति की अर्थात् ईश्वर के लिए ही ईश्वर की प्राप्ति की एवं उसके साथ एकात्मभूतत्व की आनन्दोपलब्धि की इसने मानव स्वभाव की दुर्दान्तता को वशीभूत कर उसे कोमलतर बना दिया। इसके लिए इससे अधिक प्रबल प्रमाण की आवश्यकता नहीं कि शृंगार और करुण दो ऐसे रस हैं जो ईश्वरीय स्वभाव के सर्वाधिक समीप हैं। नृपवर्गीय ग्रन्थकारों में सर्वश्रेष्ठ भोज है जो संस्कृति के सरंक्षण के लिए चिर प्रसिद्ध हैं। उन्होंने कहा है कि 'अहम्' शृंगारमूलक है और शृंगार ही एक रस है। बुद्ध धर्मावलम्बियों के मतानुसार करुण रस ही प्रधान है जिसकी वे लोग समूर्त रूप में पूजा भी करते हैं।[४७] भरत जैसे पुरातनवादी लेखकों के अनुसार शान्त रस ही मौलिक रस है अतः सब संस्कृतियों में शान्ति करुणा और शृंगार की आनन्दोपलब्धि ही परमानन्द प्राप्ति का आदर्श माना गया है। इससे बढ़कर किसी भी उच्चतर आदर्श की कल्पना नहीं की जा सकती। स्वभाव से ही ईश्वरीय तत्व, शान्ति और निर्वाण रूप है; कब्र की शान्ति वाली विशुद्ध अनस्तित्व की शान्ति या निर्वाण नहीं परन्तु अस्तित्व की निरुपद्रव पूर्णता। हमें भरत की

---

४७. दृष्टव्य; साधन माला

यह उक्ति भूलनी न चाहिए कि शान्ति ही सब रसों की प्रकृति है और यथावसर ये उसी से उत्पन्न होते हैं और उसी में विलीन होते हैं। इस भारतीय- विचारधारा के आलोचकों ने इस शान्ति के बारे में एक भ्रामक धारणा बना ली है। उन्हें इस शान्ति को अस्तित्व की पूर्णता की गहराई से निकली हुई वस्तु मानना चाहिए। भारतीय विचार धारा की सब शाखाओं के अनुसार परमतत्व की अनुभूति अपने अन्दर ही होती है बाहर नहीं। [४८] शृंगार और करुण, यद्यपि कुछ लोगों के मतानुसार सर्वश्रेष्ठ हैं, कम से कम शान्ति के समीपतम है इस अर्थ में कि वे अहम् की कड़ी ग्रन्थि को खोलते नहीं तो उसे तरल जरूर बना देते हैं। भारतीय संस्कृति ने, विशेषतः बौद्ध संस्कृति ने, सारे विश्व में इसी आदर्श का प्रचार किया। एशिया के बहुत से देशों में यह आदर्श आज भी सजीव है। इस अवदान के वास्तविक मूल्यांकन में दो कारणों से बाधा हो सकती है —(१) शान्ति को भाव रूप में ग्रहण करना बहुतों के लिए कठिन है कारण शान्ति बहुधा अभाव रूप में मानी जाती है (२) एक बार इसे अभाव रूप में मान लेने पर यह कल्पना करना कठिन ही हो जाता है कि इसका उपभोग किस तरह हो सकता है। भारतीय मनोविज्ञान ने यहां पर संसार के लिए एक नया ही विचार उपस्थित किया है। इस विचार के समर्थन में हम एक नया प्रश्न पूछते हैं – यदि शांति अभावमूलक है अर्थात् शांति की कल्पना नकारात्मक है तब हम विश्व में शांति स्थापन का समर्थन कैसे कर सकते हैं क्योंकि यह तो सब व्यापारों का अन्त करने का समर्थन होगा। अतः आर्थिक, राजनैतिक, मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में भी शांति का विवेचन नकारात्मक विचार नहीं हो सकता। मानव और मानवीय दृष्टि से सभ्यता को भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी देन यह है कि उसने बतलाया है कि प्रत्येक सांस्कृतिक व्यापार में शान्ति, करुणा और शृंगार की आनन्दोपलब्धि ही चरमादर्श है। इस आदर्श का साधरणीकरण होना चाहिए और धार्मिक, सामाजिक उन्नति, राजनै-

४८. कठोपनिषद्

तिक व्यवस्था तथा साहित्य और ललित कलाओं के क्षेत्र में इसका प्रयोग होना चाहिए। पश्चिमीय जातियों के द्वारा गोरी जातियों का भार नामक सिद्धान्त का प्रचार हुआ था परन्तु विश्व की लूट में सबसे अधिक भाग प्राप्त करने वाली प्रतिद्वन्द्विता ने विश्व में जिस दावाग्नि को प्रज्वलित किया उसे देखते हुए यह सिद्धान्त कपटपूर्ण मालूम पड़ता है और अशोक की धर्म विजय के सामने तुच्छ दिखलाई पड़ता है। कोई विश्वव्यापी संगठन इसी सिद्धान्त के प्रयोग के आधार पर अवलम्बित हो सकता है कारण, इसी के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय, अन्तर्प्रान्तीय तथा अन्तर्साम्प्रदायिक संघर्षों की समस्या हल हो सकती है। हिन्दू धर्म ने अपने छोटे पैमाने पर गलतियों के साथ जिन आदर्शों का प्रयोग किया है उसे ही बड़े पैमाने पर और अधिक सफलतापूर्वक विश्वव्यापी संगठन कर सकते हैं। जब तक व्यक्ति, जातियां, समूह और समाज स्वार्थपरता के भावों से प्रेरित रहेंगे और विश्व की सम्पत्ति को अधिक से अधिक हस्तगत करने के भाव से संचालित होंगे तब तक यह आशा करना दुराशा मात्र है कि राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय सभाओं में हमारे सर्वोत्तम प्रतिनिधि भेजे जायंगे। किसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के लिए राजनैतिक सुधार का प्रथम चरण यह होना चाहिए कि वह व्यक्ति की शिक्षा में सुधार करे जो केवल बौद्धिक न हो परन्तु नैतिक हो और जो उन्हें अपने विचारों को प्रगट करने और मतदान करने में संयम से काम लेने की शिक्षा दे। इस सुधार का रूप सांस्कृतिक होगा जिसमें सर्वश्रेष्ठ आदर्श पर बल दिया जाता है।

मानवीय मूल्यों को चार श्रेणियों में विभाजित किया गया था--अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष। इनमें प्रत्येक अगला अपने पिछले वाले मूल्य से श्रेष्ठ है। मनुष्य अर्थोपार्जन करता है पर किस उद्देश्य से ? आनन्दोपभोग के लिए अतः अर्थ से काम श्रेष्ठ हुआ। इससे हम एक साधारण सिद्धान्त निकाल सकते हैं कि अर्थ का उद्देश्य हमारी भावात्मक प्रवृत्तियों से है

परन्तु हमारे भावात्मक परितोष में भी एक व्यवस्था होनी चाहिए। इसे कुछ नियमों के द्वारा मर्यादित होना चाहिए। अतः धर्म का काम पर नियन्त्रण होना चाहिए परन्तु धर्म के लिए धर्म वाला सिद्धान्त तो कुछ प्रतिष्ठित नियमों के अन्धानुकरण और औपचारिक पालन के रूप में हो सकता है। इसलिए मोक्ष का स्थान धर्म से ऊपर रखा गया है। जीवन के इन चार मूल्यों के अनुसार चार तरह के विज्ञानों की श्रेणियों की स्थापना करने का प्रयत्न किया गया था, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, धर्मशास्त्र और मोक्षशास्त्र जिसे साधारणतया भारतीय दर्शन कहा जाता है और जिसके अन्तर्गत बौद्ध, जैन और अनेक परम्परावादी सम्प्रदाय आ जाते हैं। वे जीवन के सर्वोच्च मूल्य मोक्ष की ही चर्चा करते हैं। सब धर्म शास्त्र मोक्ष शास्त्र हैं। भारतीय धार्मिक मनोवृत्ति बौद्धिक और मनोवैज्ञानिक थी। Dogmatic नहीं इसलिए सर्वोच्च मूल्य के स्तर पर दर्शन के विकास को यहां पूर्ण अवसर मिला अतः तर्क और मनोविज्ञान के प्रश्न को धार्मिक स्तर पर लेजा कर देखा, बहुत से समकालीन दार्शनिकों की मनोवृत्ति यह पाई जाती है कि वे उन प्रश्नों पर आधिभौतिक, प्राकृतिक और नास्तिक ढंग से विचार करते थे। यही कारण है कि बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में पश्चिमी विचारकों को भारतीय दर्शन में नीति शास्त्र का दर्शन नहीं मिल सका। वे भूल जाते हैं कि भारतीय दर्शन की अभिरुचि एक व्यवस्थित समाज के निर्माण की ओर न होकर मोक्ष नामक सर्वोच्च आदर्श की ओर संकेत करना था। भारतीय दर्शन की आलोचना का आधार वह नहीं होना चाहिए जो आदर्श उसका कभी नहीं रहा। इसके विपरीत भारतीय दर्शन अपने लक्ष्य के प्रति सदा एकनिष्ठ रहा है। सच्ची आलोचना तो यह होती है कि धर्मशास्त्र दर्शन के रूपों में विकसित न होकर विधि और निषेध के स्तर पर ही रह गए। यदि उनका विकास नीतिमूलक दर्शन में कुछ हुआ तो उनके सिद्धान्तों का मोक्ष के साथ क्या सम्बन्ध है इस प्रश्न को टाला नहीं जा सकता था। वास्तव में बात तो यह है कि प्रथम तीन मूल्यों को लेकर चलने वाले विज्ञान थोड़ा

बहुत विचार विश्लेषण करके ही रह गए; किसी दर्शन का रूप न ले सके। अतः इनके सामने यह प्रश्न ही नहीं उपस्थित हुआ कि मोक्ष के साथ उनके सिद्धान्तों का सम्बन्ध है, इस पर विचार किया जाय। नहीं तो भारतीय दार्शनिक जीवन के विज्ञानों का चाहे सांसारिक वा असांसारिक बहुत ही सांगोपांग अध्ययन उपस्थित कर सकते थे। फिर भी जहां तक चतुर्थ आदर्श का सम्बन्ध है उसके आधार पर उच्च से उच्च दार्शनिक भवनों का निर्माण किया गया था।

————

भारत की संस्कृति और उसकी समस्यायें

तृतीय व्याख्यान

सांस्कृतिक संघर्ष तथा परिवर्तन का युग

हम सांस्कृतिक संघर्ष युग की बात कहने जा रहे हैं परन्तु इसका अर्थ यह नहीं लगाना चाहिए कि इसके पूर्व कभी भी इस तरह के संघर्ष नहीं हुए। जब आर्यों का अपने पूर्व निवासियों से सम्पर्क हुआ, जब पुरातन और अपुरातन लोगों में सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं को लेकर संघर्ष चला, जब बौद्ध, जैन, और ब्राह्मण धर्म के अनुयायियों के बीच धार्मिक प्रधानता और राजकीय सम्मान प्राप्त करने की प्रतिद्वन्द्विता चली तब संघर्ष उठ खड़े हुए परन्तु हिन्दू धर्म को आज जिस रूप में देख रहे हैं उस रूप की उपलब्धि में इन संघर्षों से बहुत सहायता मिली। मुस्लिम विजय के पहले कोई भी अपने को हिन्दू नहीं कहता था। धर्म के क्षेत्र में लोग आदि धर्म के अनुयायी थे। ज्यादा पूछताछ करने पर वे कहते थे कि हम बुद्ध, जैन या वेद के अनुयायी हैं। जाति में हम ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र हैं और शैव, वैष्णव और स्मार्त सम्प्रदाय के मानने वाले हैं। परन्तु इन सभी में से किसी की भावना यह नहीं होती थी कि वे विदेशियों के साथ रहते हैं जो उन्हें किसी भी समय नेस्तनाबूद कर सकते हैं। पौराणिक संस्कृति एक देवता या सम्प्रदाय को दूसरे देवता या सम्प्रदाय के स्थान पर स्थापित अवश्य करती थी पर फिर भी लघु देवताओं को भी एक ही ईश्वरीय तत्व की अभिव्यक्ति मानती थी और उन्हें पूजार्ह समझती थी। अतः इस मनोवृत्ति के कारण आपस में ऐक्य भाव की स्थापना हो गई थी और प्रत्येक में सामाजिक और सांस्कृतिक आत्मीयता के भाव जागृत हो गए थे। इसकी कमजोरी का पता इस्लाम धर्म के संघर्ष के समय ही लगा। इस्लाम धर्म के प्रवेश के पूर्व जितने

सांस्कृतिक संघर्ष हुए उनके कारण आध्यात्मिक अनुसन्धित्सा के रूप में धर्म के आधार में व्यापकत्व आता गया और अधिक से अधिक जातियों और उपजातियों के मिलते जाने के कारण हिन्दू समाज बहुत ही व्यापक बन गया। उदाहरणार्थ बुद्ध और ब्राह्मण धर्मों के संघर्ष के कारण गौड़पाद और शंकर के आध्यात्मिक एकेश्वरवाद की उत्पत्ति हुई और परिणाम यह हुआ कि हिन्दू धर्म में बुद्ध भी विष्णु के अवतार के रूप में स्वीकृत कर लिए गए। उसी तरह जैन और ब्राह्मण धर्मों के संघर्ष के कारण शाकाहारिता का जन्म हुआ और अहिंसा के आदर्श पर अधिक जोर दिया जाने लगा। हिन्दू संस्कृति और उसके आदर्श लचीले और प्रगतिशील बने रहे और नित्य नए-नए रूप धारण करते गए। अतः संघर्ष को आन्तरिक रूप में ही वर्णित किया गया बाह्य रूप में नहीं। मध्य एशिया से जिन आक्रमणकारियों ने भारत में प्रवेश किया उनके कोई दृढ़ धार्मिक सिद्धान्त न थे और उनमें सांस्कृतिक श्रेष्ठता की भावना भी न थी। उस युग में संस्कृति का केन्द्र धर्म था और धर्म अनेक समाजों में सांस्कृतिक रूपों के साथ घुल मिल गया था अतः सांस्कृतिक श्रेष्ठता धार्मिक श्रेष्ठता की ही पर्यायवाची मानी जाती थी फिर भी चूंकि मध्य एशिया और भारत के धर्मों ने किन्हीं धार्मिक सिद्धान्तों और सम्प्रदायों का रूप धारण नहीं किया था अतः वे अभी लचीले, ग्रहणशील और सहिष्णु बने रहे परन्तु इस्लाम के प्रवेश के साथ सांस्कृतिक संघर्षों ने एक नया ही रूप धारण किया।

गुप्त साम्राज्य की समाप्ति छठी शताब्दी के अन्त में हुई यद्यपि आठवीं शताब्दी तक जब प्रथम मुस्लिम आक्रमण हुआ गुप्त सम्राट के छोटे-छोटे राज्य अभी भी देखने में आते थे। भारत के वीर युग का पतन प्रारम्भ हुआ और साम्प्रदायिक युग का प्रारम्भ अथवा यों कहिए कि वीरता का स्थान साम्प्रदायिकता ने ले लिया। हिन्दू जब युद्ध करते थे तब उनके सामने सदा वीरता के आदर्श वर्तमान रहते थे। जनता का संहार नहीं किया जाता था और आर्य धर्म के अनुसार पराजित राजाओं को विजयी नृप की सत्ता स्वीकार कर लेने पर पुनःस्थापित भी कर दिया

जाता था। यही कारण था कि मुहम्मद गोरी बार बार पराजित होने और बंदी बना लिए जाने पर भी पृथ्वीराज के द्वारा मुक्त कर दिया गया था परन्तु युद्ध और राजनीति में मुसलमानों के आदर्श भिन्न थे। इस्लाम धर्म में धार्मिक और सांस्कृतिक सत्ताओं का प्रधान एक ही था अतः राजनीतिक विजय ही धार्मिक विजय होती थी और सांस्कृतिक भी। व्यवहार में तो यही होता था कि विजित धर्मों की तरह विजित संस्कृतियां भी नष्ट कर दी जाती थीं क्योंकि उस समय धर्म और संस्कृति में आज से अधिक सान्निध्य था। यद्यपि विभिन्न ढंग से कुरान की व्याख्या करना संभव है और कुछ प्रगतिशील मुसलमानों ने कुरान के कुछ अधिकतर युक्ति संगत अंशों पर जोर देते हुए ऐसी व्याख्या की भी है फिर भी व्यावहारिक रूप में राजनैतिक नेताओं ने उसकी अवहेलना करना ही अधिक सुविधाजनक समझा था और प्रत्येक गैर मुसलमानों के विरुद्ध जिहाद छेड़ना अपना कर्तव्य समझा था। अतः मुस्लिम राजनीतिक शक्ति के प्रचार का अर्थ इस्लाम धर्म का प्रचार भी होता था और जहां राजनैतिक शक्ति निर्बल पाई जाती थी वहां से इस्लाम धर्म को विदा भी हो जाना पड़ता था। काफिरों का नाश और उनकी भूमि और नारियों का अपहरण धार्मिक उत्साह के साथ किया जाता था। हेवेल की तरह कुछ ईसाई विचारक लिखते हैं कम से कम सिद्धान्ततः इस्लाम धर्म के क्षेत्र में सब मनुष्य बराबर हैं। सच्चे अहले इस्लाम के लिए इस संसार में और स्वर्ग में अनन्त उपभोग की व्यवस्था दी गई थी और इस आनन्दोपभोग का एक रूप यह भी था कि इस्लामेतर जातियों पर उन्हें शासन करने का अपरिमित अधिकार था ताकि इनके द्वारा भी सम्पत्ति और सुख की अभिवृद्धि हो सके। मुस्लिम समाज के अपने सदाचार के नियम तो थे परन्तु यह कोई आवश्यक नहीं था कि मुस्लिमेतर व्यक्तियों के साथ व्यवहार करते समय उनका दृढ़ता से पालन किया जाय। मुस्लिमेतर जातियां सामूहिक या व्यक्तिगत रूप से जो कुछ भी अधिकार का उपभोग कर सकती थीं वह मुसलमानों की कृपा पर निर्भर था और यह कृपा

उनके[४९] अच्छे व्यवहार और खुदा की ख्वाहिश पर निर्भर करती थी। मुस्लिम समाज में साम्प्रदायिक पक्षपात बहुत दृढ़ है और इसका आधार जाति नहीं परन्तु धर्म है।

समाजशास्त्र के विद्यार्थी के लिए इस्लाम और हिन्दू धर्म का संघर्ष बड़ा ही मनोरंजक है। प्रथमतः, जूडाइज्म जैसे अन्य सामी धर्मों की तरह इस्लाम का मूलाधार और महत्व सामूहिक था। यद्यपि अन्य धर्मों के विपरीत इसने अपनी जातीय सीम को तोड़ कर सार्वभौमिक बनने का प्रयत्न अवश्य किया परन्तु वह केवल साम्प्रदायिक बनकर ही रह गया। परन्तु हिन्दू धर्म का उदय प्रकृति की शक्तियों और मनुष्य की आन्तरिक शक्तिपूजा से हुआ कि यह विवेक और मनोवैज्ञानिक अनुशासन के आधार पर आध्यात्मिक उदात्तता के रंग से रंग गया। द्वितीयतः, इस्लाम धर्म में राजनैतिक और धार्मिक नेता एक ही होता था और यदि वह आध्यात्मिक नेता के रूप में स्वीकार किया जाता था तो जनता का समर्थन उसे और भी अधिक प्राप्त होता था। परन्तु हिन्दू धर्म में राजनैतिक और धार्मिक नेता भिन्न-भिन्न थे। आध्यात्मिक नेता के लिए दुनियादारी में दिलचस्पी लेना दूषण समझा जाता था। जनक और अजातशत्रु आध्यात्मिक विकास के चरम शिखर पर पहुँच गए थे। पर इन्होंने भी आध्यात्मिक नेतृत्व पाने की आकांक्षा न की और यह गौरव और उत्तरदायित्व अपने गुरुओं को देते रहे जिनकी वे पूजा करते थे। तृतीयतः, चूंकि इस्लाम धर्म में राजनैतिक और आध्यात्मिक नेतृत्व एक ही व्यक्ति के हाथ में था अतः एक इस्लामेतर राजा की सेवा करने का अर्थ इस्लामेतर आध्यात्मिक नेतृत्व का समर्थन करना समझा जाता था और धार्मिक भावों की प्रेरणा के कारण एक मुस्लिमेतर राज्य की प्रजा होना घृणास्पद समझा जाता था। हां, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि आज के शिक्षित मुसलमानों की मनोवृत्ति में परिवर्तन हो रहा है। परन्तु हिन्दू धर्म के साथ प्रथम सम्पर्क में आने वाले मुसलमानों

49. Aryan Rule in India. p. 404.

के हृदय में ये भाव बड़े प्रबल थे और यदि पर्याप्त प्रलोभन दिया जाय तो आज भी उन्हें जागृत किया जा सकता है। परन्तु किसी भी धर्मावलम्बी राज्य की प्रजा होने में हिन्दू को कोई ऐतराज नहीं था यदि धर्म के नाम पर उसे और उसके परिवार को उत्पीडित न किया जाय। यह मनोवृत्ति हिन्दू धर्म के राजनीतिक और आध्यात्मिक नेतृत्व के पृथकत्व का परिणाम था। यद्यपि सारा भारत उस वक्त हिन्दू धर्मावलम्बी था परन्तु इसकी राजनैतिक एकता के भाव उस रूप में विकसित नहीं थे जिस रूप में सामाजिक और सांस्कृतिक एकता के भाव थे। यद्यपि बहुत से राजाओं के सामने सम्राट या राजाधिराज का आदर्श रहता था परन्तु इसका अनुपालन केवल अपनी वीरता की प्रतिष्ठा जमाने के लिए होता था, देश में राजनैतिक एकता स्थापित करने के लिए नहीं। दूसरी बात यह है कि आवागमन के साधनों के अभाव से उन दिनों दृढ़ राजनैतिक एकता असंभव थी। हिन्दू सामाजिक संगठन को धार्मिक रंग में भले ही रंग दिया गया था पर राजनीति ने इसमें प्रवेश नहीं किया था। हिन्दू प्रजा किसी भी राजा के शासन को मानने को तैयार थी केवल उसे धार्मिक स्वतन्त्रता हो। आदमी को जाति-च्युत करने का अधिकार धार्मिक नेता को था लौकिक नेता को नहीं। चतुर्थतः, मुसलमानों की दृष्टि में एक हिन्दू और मुसलमान का युद्ध दो जातियों का युद्ध था और उनके मतानुसार युद्ध का उद्देश्य केवल राजा को ही नष्ट करना नहीं परन्तु प्रतिद्वन्द्वी धर्म और संस्कृति को नष्ट करना था। इस अभीष्ट की सिद्धि दोनों तरीकों से प्राप्त थी। प्रतिद्वन्द्वी जाति के सदस्यों की हत्या करके तथा उन्हें अपने धर्म में परिवर्तन करके। परन्तु हिन्दू धर्म के अनुसार युद्ध का उद्देश्य प्रतिद्वन्द्वी राजा को ही नष्ट करना था प्रतिद्वन्द्वी समाज को नहीं। अपने समाज के इस उदाहरण के कारण हिन्दू मुसलमानों को भी अपने समाज के अन्दर एक पृथक् जाति के रूप में स्थान देने के लिए तैयार था। पंचमतः, इस्लाम धर्म के सिद्धान्त और मान्यताएं बहुत कठिन और दृढ़ थीं परन्तु हिन्दू धर्म मनोविज्ञान और धर्म के

आधार पर स्थित था और उसके सिद्धान्त और मान्यताएं उतनी दृढ़ नहीं थीं। जहां तक आध्यात्मिक विचारों का सम्बन्ध है इस्लाम धर्म अपरिवर्तनशील, अनुदार तथा अप्रगतिशील था परन्तु हिन्दू धर्म नमनीय उदार और लचीला था। इसका कारण यह है कि इस्लाम धर्म एक ग्रन्थ के द्वारा संचालित होता था परन्तु हिन्दू धर्म में इस तरह की कोई वस्तु न थी। यह किंवदन्ती है कि खलीफा उमर ने कहा था कि दूसरे ग्रन्थों में क्या है ? या तो उनमें वही है जो हमारा ग्रन्थ कहता है या वह है जो हमारा ग्रन्थ नहीं कहता है। प्रथम स्थिति में तो वे अनावश्यक हैं। दूसरी स्थिति में वे मिथ्या हैं अतः किसी भी हालत में उन्हें नष्ट ही कर देना चाहिए। षष्ठतः, इस्लाम धर्म भौतिक और सामाजिक रूप में प्रगतिशील और दूसरों को अपने धर्म में दीक्षित करने वाला है। परन्तु हिन्दू धर्म दूसरे धर्मों में हस्तक्षेप नहीं करता और भौतिक प्रगति में विश्वास नहीं करता चाहे इसके कारण जो रहे हों। हिन्दू धर्म का परित्याग कर जो इस्लाम धर्म की दीक्षा लेते थे वे हिन्दू धर्म से सदा के लिए पृथक् हो जाते थे। बहुधा दूसरे धर्मों के सदस्यों को अपने धर्म में दीक्षित करने की प्रथा को यह कह कर महिमान्वित किया जाता है कि हमारा धर्म सार्वभौमिक है। परन्तु प्रत्येक परिवर्तनकारी धर्म दूसरे धर्मों के प्रति असहिष्णु रहा है। अतः एक तरह से वे विशिष्ट धर्म हैं सार्वभौमिक नहीं।

हिन्दू धर्म और इस्लाम धर्म के इस पारस्परिक संघर्ष का परिणाम हिन्दुओं के लिए हितकर नहीं हुआ। हिन्दू धर्म दूसरों को अपने यहां दीक्षित नहीं करता था तथा दूसरों के प्रति असहिष्णु भी नहीं हो सकता था। दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक स्तर के संघर्ष में हिन्दू धर्म अपने महत्व का परिचय दे सकता था और इसका प्रभाव इस्लाम धर्म पर बहुत ही लाभकर हो सकता था। परन्तु ये सब बातें तो मुसलमानों के लिए व्यर्थ थीं और वे सदा इन बातों को निरुत्साहित किया करते थे। उसी तरह हिन्दू धर्म के लिए राजनैतिक और सामाजिक स्तर के वाद-

विवाद व्यर्थ थे। हालांकि बाध्य होकर उनको इसमें भाग लेना पड़ा। हिन्दू धर्म इसके लिए तैयार नहीं था। अतः उसे रक्षणात्मक अवस्था ग्रहण करनी पड़ी। इस्लाम धर्म धार्मिक समस्याओं और सिद्धान्तों के तर्कपूर्ण और मनोवैज्ञानिक वादविवाद को संदेह की दृष्टि से देखता था और उन्हें प्रोत्साहित नहीं करता था परन्तु सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्र में उसका रूप आक्रमणात्मक था। हिन्दू धर्म धार्मिक समस्या सम्बन्धी विवादों को प्रोत्साहन देता था पर सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं को मनोवैज्ञानिक और तात्विक ढंग से देखने वाली मनोवृत्ति को हतोत्साहित करता था और आक्रमणात्मक तो वह किसी भी क्षेत्र में नहीं हो सकता था। यह ही हिन्दू धर्म की निर्बलता थी जिसके चलते उसे भौतिक, राजनैतिक और सामाजिक स्तर पर मात खानी पड़ी। जातीय एकता के रूप में इस्लाम धर्म ने जिस दृढ़ता का परिचय दिया उसका हिन्दू धर्म में सर्वथा अभाव था क्योंकि यहां जातीय बंधन बहुत ढीले थे। शूद्रों को केवल प्रतीकात्मक रूप में हिन्दू धर्म के आध्यात्मिक सत्यों व शक्तियों का परिचय दिया गया था। वे उसके महत्वों से पूर्णतया परिचित नहीं थे। अतः सबसे पहले उन्हीं को बहुत आसानी से धर्म परिवर्तित किया जा सका। इस्लाम धर्म जैसे दृढ़ और एकांगी धर्म का जवाब हिन्दू धर्म एक ही ढंग से दे सका अर्थात् अपने वर्णाश्रम को संगठित और दृढ़ बना कर उसे रक्षणात्मक रूप धारण करना पड़ा। इसने दक्षिण भारत में १३ वीं से १६ वीं शताब्दी के बीच विजयनगर साम्राज्य के आश्रय में पैर जमाने का प्रयत्न किया और पुनः मरहठा शक्ति के उदय के साथ सारे भारत में फैलने का प्रयत्न किया। परन्तु इसका रूप वही पुराना रहा। हां, अपने शत्रुओं से उसने कुछ नई पद्धतियां अवश्य सीखीं। जो हो, मरहठा साम्राज्य के दृढ़ होने तक अंग्रेजों और पश्चिम का रंगमंच पर पदार्पण हो चुका था।

इस्लाम ने दार्शनिक स्तर पर वादविवाद होने का कोई भी अवसर नहीं दिया। परन्तु उनका रुख सदा से 'प्रभुसम्मितत्व' का रहा अतः भार-

तीय दार्शनिक और धार्मिक विचारों पर इसका प्रभाव नगण्य रहा। परन्तु दूसरी ओर इस्लाम की एक शाखा जो फारस में सूफी धर्म के नाम से अभिहित हुई थी उसकी प्रतिध्वनि उपनिषदों के दर्शन में जरूर सुनाई पड़ी। भारतीय मुसलमानों में सूफी धर्म लोकप्रिय हो जाता परन्तु सुन्नियों की कट्टरता ने ऐसा होने नहीं दिया। यदि सूफी और शिया धर्म भारत में सफल होते तो हिन्दू और मुसलमान दोनों के सम्मिलित रूप से एक समन्वित और संगठित भारतीय समाज का निर्माण संभव हो सकता था। जो हो, भारत के सूफी सम्प्रदाय में तीन शाखाएं हैं * चिस्ती, निकाशवन्दी और कादरिया। इन तीनों में हिन्दुओं के धार्मिक और सांस्कृतिक भावों के साथ थोड़ी आत्मीयता दिखलाई पड़ती है और इनमें धार्मिक साधना के मनोवैज्ञानिक और तर्क संगत रूप का दर्शन होता है। प्रथम के अनुसार वह मानसिक अवस्थ जिसमें आत्मा परमात्मा के साथ मिलकर एक हो जाती है संगीत के द्वारा प्राप्त हो सकती हैं। परन्तु दूसरे के मतानुसार आध्यात्मिक प्रेम की भावना संगीत के द्वारा न तो प्राप्त हो सकती है और न करने की कोशिश करनी चाहिए क्योंकि इस्लाम धर्म से वह वर्जित है। तृतीय ने मध्य मार्ग को अपनाया है और उसने ऐसे ही संगीतों का निषेध किया है जो हमारी पाशविक भावनाओं को आन्दोलित करती हैं।[५०]

---

[33] चिस्ती, नक्शवन्दी, कादरिया। भारत के भिन्न भिन्न सूफी सम्प्रदाय के नाम है। संगीत के सम्बन्ध में इनके विचार अलग अलग हैं। प्रथम के मतानुसार संगीत के द्वारा सांत जीव और अनंत ब्रह्म में ऐक्य उपलब्ध हो सकता है। दूसरे ने संगीत को सर्वथा त्याज्य कहा है क्योंकि वह इस्लाम से वर्जित है। तीसरे ने नीच प्रवृत्तियों को उत्तेजित करने वाले संगीत को ही कुफ्र कहा है, उदात्त प्रवृत्तियों के जगाने वाले संगीत को उपयोगी बतलाया है।

[५०] जहरुद्दीन अहमद, Mystic Tendencies in Islam p. 130

हिन्दू धर्म और इस्लाम के बीच में संगीत सदा से संघर्ष का कारण रहा है। इस्लाम की दृष्टि में संगीत और अन्य ललित कलाएं केवल मनोरंजन की वस्तु हैं जो निम्न स्तर के आनन्दों को जगाती हैं। यह माना जाता है कि संगीत हमारी निम्न प्रवृत्ति को ही स्पर्श करता है और चूंकि आध्यात्मिक तत्व कल्पनातीत है अतः इसे चित्र कला या स्थापत्य कला के सहारे कोई मूर्त रूप देना अधार्मिक है परन्तु प्राचीन भारत में ललित कलाओं के प्रति लोगों के विचार दूसरे ही थे। प्रायः सब कलाएं और विज्ञान को वेदांग कह कर ग्रहण किया गया है। साथ ही साथ उनके विषय और व्यवहार हमारी आन्तरिक आध्यात्मिक शक्ति को जागृत करने वाले हैं। धारणा यह थी कि संगीत नाद के रूप में नादब्रह्म की पूजा है। नाद के रूप में लोगोस के भावात्मक रूप का विकास ही भारतीय संगीत का ध्येय है जिसका निवास मनुष्य की आत्यन्तिक गहराई में रहता है। भारतीय संगीतज्ञ निम्न कोटि के संगीतों से अपरिचित नहीं हैं परन्तु सब इस बात को स्वींकार करते हैं कि सर्वश्रेष्ठ संगींत नादब्रह्म की पूजा है। और उनमें से विशेषतः दक्षिण भारत में जहाँ भारतीय संगीत अपने विशुद्ध रूप में सुरक्षित है, कुछ लोग तो निम्न कोटि क़ा संगीत गाना अस्वीकार करते है। मंदिरों में संगीत और नृत्य के प्रोत्साहन के पीछे यही प्रेरणा काम करती हैं। हां, व्यवहार में देखा जाता है कि इस प्रेरणा के सच्चे रूप को भुला दिया गया है।

अतः, जब हिन्दुओं के मदिर में संगीत आदि पर निमन्त्रण किया गया तो उनके मन में ऐसा हुआ कि यह उहकी आध्यात्मिक सिद्धि पर प्रतिवंध है परन्तु मुसलमानों के लिये यह अवस्था ठीक उसके विपरीत थी और वे इसके दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक पहलू पर विचार करने के लिए तैयार नहीं थे। अतः इस संघर्ष का कोई समाधान न निकल सका और प्रायः पुलिस और सेना के सहारे इस समस्या का समाधान किया जाता था। उसी तरह मूर्ति पजा के सम्बन्ध में भी मुसलमान दृढ़ थे

और किसी तरह से समझौते के लिए तैयार न थे। वे इस बात को समझने के लिए तैयार न थे कि हिन्दुओं के लिए मूर्ति तो सहज प्रतीक मात्र थी और यदि एक मूर्ति तोड़ी जायगी तो दूसरी उसका स्थान ग्रहण कर लेगी। इसीलिए मुसलमानों के लिए यह समझना कठिन न था कि हिन्दू जानबूझ कर ही काठ और पत्थर की पूजा करना नहीं छोड़ते। हिन्दुओं के मतानुसार पूजा के स्थापत्य कला या अन्य ललित कलाओं के विविध रूप व्यक्तित्व के उदात्तीकरण तथा अन्तर्मुखीकरण की पद्धतियां हैं ताकि इसके द्वारा आन्तरिक दैवी शक्ति का शुद्ध रूप में प्रत्यक्षीकरण हो सके।

मुसलमानों में भी कुछ लोगों ने बौद्धिक समझौता करने का प्रयत्न किया परन्तु वे अपवादस्वरूप हैं और वे अपने प्रयत्न में असफल रहे। पहला उदाहरण अकबर का है। दूसरा उदाहरण दारा की करुण कहानी है और तीसरा उदाहरण कुछ गोलकुंडा के नवाबों का है जिन्होंने अपने शासन के अन्तिम दिनों में कुछ ऐसे प्रयत्न किये थे और जिसे हठधर्मी औरंगजेब ने समाप्त कर दिया था। यद्यपि भारतीय विचारधारा और आध्यात्मिकता के प्रति इस्लाम धर्म का कुछ भी अनुदान नहीं है परन्तु समाज के बाहरी आचार व्यवहार पर कुछ इसका प्रभाव जरूर पड़ा है। बहुत हिन्दुओं ने विशेषतः उत्तर भारत में स्त्रियों ने पर्दाप्रथा को अपनाया। दक्षिण भारत में कुछ वीर शैवों ने मुसलमानों की आक्रमणात्मक उग्रता कों अपनाया और कुछ जैनियों की हत्या की। काफिरों की हत्या करने वाला मुसलमान मत जैनियों के अहिंसा सिद्धान्त के ठीक विपरीत है। उसी तरह जैनियों का स्यादवाद मुसलमानों के धार्मिक विशेषवाद के ठीक विपरीत है परन्तु आश्चर्य की बात है कि वीर शैवों ने जो धार्मिक उग्रता विशेषतः मुसलमानों से सीखकर अपनाई उनमें से अधिकांश शाकाहारी ही बने रहे। जैनियों के श्वेताम्बर सम्प्रदाय की एक श्वेताम्बर कही जाने वाली शाखा ने मूर्ति पूजा का परित्याग तो कर दिया परन्तु मुसलमानों के आक्रमणात्मक

सम्प्रदायवाद को नहीं अपनाया। उसी तरह दक्षिण में वीर शैवों ने वीर वैष्णवों को जन्म दिया क्योंकि भारत के उस प्रदेश में शैव केवल जैनियों के ही नहीं परन्तु वैष्णवों के भी प्रतिद्वन्दी थे। उत्तर भारत में गुरु नानक का सिक्ख धर्म हिन्दू और मुसलमानों के एकेश्वरवाद का समन्वित रूप था। प्रारम्भ में यद्यपि सिक्ख धर्म शांति–प्रधान धर्म था पर मुसलमानों के द्वारा निरन्तर उत्पीड़ित होने के कारण यह एक सैनिक संगठन में परिणत हो गया।

मैं यद्यपि उर्दू साहित्य से अच्छी तरह परिचित नहीं हूँ परन्तु इस विषय के अधिकारी विद्वानों के मुख से मैंने सुना है कि प्रायः सब मुस्लिम राज्यपरिषदों में कविता दिल बहलाव मनोरंजन तथा आनन्द प्राप्ति का साधन समझी जाती थी अतः भारतीय काव्य साहित्य तथा ललित कलाओं के उच्चादर्श से नीचे आकर मुस्लिम सम्राटों के राज-दरबार में कविता ऐन्द्रिय आनन्दोपलब्धि की नीची सतह पर आकर गिर गई। सूफी रहस्यवादियों एवं कबीर की तरह निर्गुणियों की कविता राज दरबार की चीज नहीं थी। परन्तु राजदरबार ही उन दिनों आदर्शों का निर्माण करते थे, अतः साहित्य और ललित कलाओं से आध्यात्मिक गहराई का अभाव हो चला।

फारसी रूपों के प्रभाव से कला के आदर्शों में तथा संगीत में कुछ परिवर्तन अवश्य हुए विशेषतः उत्तर में, परन्तु इनमें भी भारतीय तथा आर्य रूप की प्रधानता नष्ट नहीं हुई। हैवेल ने कहा है कि मुस्लिम वास्तु कला प्राचीन हिन्दू पद्धतियों पर लगाई हुई कलम है, भारतीय मिट्टी में अरेबिया से लाकर एक विदेशी पौधे जैसी लगाई हुई वस्तु नहीं।[५१]

इस्लाम के आगमन के साथ हिन्दुओं के सामाजिक और राजनैतिक संगठन की कमजोरियां स्पष्ट होकर सामने आ गईं। आध्यात्मिक

51. Aryan Rule in India, p. 336.

आदर्श जिन्होंने हिन्दू धर्म के निर्माण में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से योग दिया था वे कितने ही महान क्यों न हों, भौतिक सामाजिक और राजनैतिक संघर्ष तो भौतिक स्तर पर ही होते हैं। इन बाह्य आक्रमणों का सामना करने के लिए तथा उनके आघात को अपने में लींन करने के लिए जितनी सामाजिक संगठन की आवश्यकता होती है भारत में उनका अभाव था। परिणाम यह हुआ कि इस्लाम के चलते भारतीय सामाजिक संगठन में एक और भी दरार पड़ गई। प्राचीन काल में पृथक पृथक समूह जातियों और उपजातियों के रूप में शान्तिपूर्वक पारस्परिक रूप से जीवन का निर्वाह कर लेते थे। वे ब्राह्मणों को आध्यात्मिक और राजकीय वर्ग की राजनैतिक सत्ता को बड़े मज़े में स्वीकार कर लेते थे परन्तु मुसलमान दोनों में से एक भी न कर सके। अतः, प्राचीन काल की साम्प्रदायिक एकता जाती रही। यद्यपि प्रारम्भिक अवस्था में मुसलमानो में अस्त्रों को जीविका के रूप में ग्रहण किया जो हिन्दुओं में क्षत्रियों का व्यापार था परन्तु आगे चलकर उन्होंने ऐसी जीविकाएं ग्रहण कीं जो किसी एक खास जाति या उपजाति की न होकर बहुतों में पाई जाती थी। अतः ऐसे दो समाज साथ साथ चलने लगे जिनके व्यापार एक दूसरे के सीमा क्षेत्र में प्रवेश करते थे। इसका स्वभाविक परिणाम यह हुआ कि जातियों के अपने परम्परा प्राप्त जीविकाओं के सम्बन्ध में संदेह के भाव दृढ़ हो गए।

व्यापक दृष्टि से देखने पर भारतीय इतिहास के मुस्लिल युग का इतिहास निरन्तर साम्प्रदायिक संघर्ण, युद्ध और अशान्ति का इतिहास है। राजाओं और सम्राटों चे द्वारा कुछ बड़े बड़े भवनों के निर्माण के सिवाय जो सांस्कृतिक उन्नति हुई वह नगण्य थी। विजयनगर के सम्राटों ने भारतीय संस्कृतिके लिए बहुत कुछ किया परन्तु केवल प्रतिरक्षात्मक रूप में। दक्षिण से बहुत से भागे हुये विद्वानों को उन्होंने अपने यहां निमन्त्रित किया। और चूंकि मुसलमान पुस्तकालयों, विश्वविद्यालयों

और मन्दिरों का संगठित रूप से ध्वंस करते थे अतः विद्वानों को अपनी पुस्तकें जमीन के नीचे गाड़ कर रखनी पड़ती थीं और वे पुस्तकें इस तरह दीमकों या कीड़ों की कृपा पर निर्भर करती थीं। बहुत बार तो विद्वानों की हत्या कर दी जाती थी और उनकी किताबों को लोग भूल जाते थे। १३ वीं शताब्दी तक लोग वेदों के अर्थ उसी तरह भूल चले थे जिस तरह बाली प्रायद्वीप में लोग संस्कृत पुस्तकों के अर्थ को। विजयनगर के प्रसिद्ध मन्त्री सायण और माधव को देश के भिन्न भिन्न कोनों से विद्वानों को बुलाकर वेदों पर रचना करने के लिए एकत्रित करना पड़ा था परन्तु विजयनगर तो स्वयं व्यावहारिक रूप में एक सैनिक छावनी के रूप में परिणत हो गया था। बाहर से मुसलमानों के आक्रमण और अन्तर से विद्रोह की काली घटा सदा छायी रहती थी। आन्तरिक विद्रोह का कारण यह था कि अभी तक प्राचीन विचारधारा चली आती थी कि शासन और राज्य, शासन करने वाली जाति का है जनसाधारण का नहीं। अतः शासक वर्गों में शक्ति के लिए सदा संघर्ष चला करता था और वे लोग इस बात की परवाह नहीं करते थे कि समाज किस तरह के खतरे की घड़ियोंसे गुजर रहा है। हिन्दू शासक वर्ग अभी तक यह बात समझ नहीं सके थे कि आर्यों का वीर युग समाप्त हो गया और साम्प्रदायिकता का युग आ गया है। परन्तु मुसलमानों ने इस बात को अच्छी तरह से हृदयंगम किया था और इसका पूरा पूरा उपयोग किया था। उन लोगों ने प्रत्येक युद्ध को धार्मिक युद्ध का रूप दे दिया था और अपने सैनिकों के सामने काफिरों का अधिक से अधिक संख्या में ध्वंस करने का आदर्श रखा था। आर्थिक दृष्टि और जनता की दृष्टि से हिन्दू और मुसलमान दोनों के लिये यह युद्ध दुःख और दारिद्रय उपस्थित करने के सिवा और कुछ नहीं कर सकता था। अधिक से अधिक कुछ बड़े बड़े लोगों का लाभ ही हो सकता था परन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि मुसलमानों ने ये लड़ाइयां इस्लाम के नाम पर लड़ी थीं। एक ओर सैनिकों के सामने लूट के द्रव्य-प्राप्ति का प्रलोभन

था और दूसरी ओर साम्प्रदायिक भाव और काफिरों की हत्या स्वरूप स्वर्गसुखोपलब्धि की भावना के कारण उनमें उत्साह का भी संचार होता था। आज भी यह भाव किस तरह सशक्त हैं यह बात बंगाल और पंजाब के आधुनिक साम्प्रदायिक ताण्डवों से स्पष्ट हो जाती है।

हिन्दुओं ने इस साम्प्रदायिकता के नये रूप को नहीं पहचाना। परन्तु पूरा का पूरा मुस्लिम समाज अपने को शासक समझता था चाहे शासित जनता कोई भी हो। शासित व्यक्तियों के बारे में वे कभी सोचते भी थे तो केवल अपने लक्ष्य के साधन के रूप में। शासकों की शक्ति गतिशील थी। यदि वे एक जगह राज्य नहीं कर सकते तो वे दूसरी जगह करेंगे। एक जगह जम कर रहने में बार बार आक्रमण के भय का सामना करना पड़ता था जिसमें शक्ति नष्ट हो जाती थी। विजयनगर साम्राज्य के पतन के बाद मरहठों ने परिस्थिति को समझा और चलती फिरती घुड़सवारों की सेना का संगठन किया जो कभी जमकर युद्ध का मोर्चा नहीं लेती थी और जो विजयनगर जैसे सुदृढ़ गढ़ पर आश्रित नहीं थी। तब पासा ही बदल गया और हिन्दू लोग मुसलमानों के जमे हुये साम्राज्यों पर निरन्तर प्रहार करने लगे परन्तु इस राज्य में भी कष्ट सहन करने वाली जनता ही थी। मरहठा लोग तो सदा घूमते ही रहते थे। अतः रक्षा या संस्कृति की उन्नति की ओर ध्यान देने का उनके पास समय बहुत कम था। सच्ची बात तो यह है कि पेशवा माधवराव ने इस सम्बन्ध में निश्चित आदेश दे रक्खे थे। यही कारण है कि यद्यपि विजयनगर साम्राज्य मरहठा साम्राज्य से छोटा था तो भी हिन्दू संस्कृति की सेवा मरहठों से अधिक कर सका।

इस तरह की चलती फिरती सेनाओं के संघर्षों और युद्धों का परिणाम यह हुआ कि भारत को चिन्तन करने की कुछ भी फुर्सत नहीं मिली। अंग्रेजों के आगमन के पश्चात् शांति की स्थापना हुई। सदा के चलते रहने वाले साम्प्रदायिक संघर्षों को समाप्त कर दिया गया और भारतवर्ष

को अवकाश मिला कि वह अपनी प्राचीन उपलब्धियों का लेखा जोखा ले सके। मुसलमानों के द्वारा बुद्ध धर्म को हिन्दू धर्म से भी अधिक क्षति उठानी पड़ी। मुसलमानों ने इनके विश्वविद्यालयों को नष्ट कर दिया तथा शांति पूर्ण जीवन व्यतीत करने वाले साधुओं की हत्या कर दी। जैनधर्म को राजस्थान और मैसूर के राजाओं-सम्राटों का सरंक्षण प्राप्त था परन्तु बुद्ध धर्म इतना सौभाग्यशाली न रहा और विजयनगर साम्राज्य के पतन के बाद हिन्दुस्तान से एक जीवित धर्म के रूप में सदा के लिए हट गया। हाँ, यत्र तत्र बंगाल में तथा हिमालय के प्रदेशों में कुछ इसके भग्नावशेष बचे रह गए। इस्लाम के आगमन के कारण भारतीय समाज के सामने जो साम्प्रदायिक समस्या खड़ी हुई तो हिन्दुओं की प्राचीनता के विरुद्ध नवीनता के संघर्ष की समस्या महत्व-हीन हो गई। लोगों के लिए अधिकारपूर्वक यह कहना कठिन हो गया कि जिस तरह मुसलमानों ने सामाजिक और राजनैतिक रूप में प्राचीन भारत के वीर युग को समाप्त कर दिया और साम्प्रदायिक युग का सूत्रपात किया उसी तरह अंग्रेजों ने साम्प्रदायिक युग को समाप्त करके आर्थिक युग का प्रारम्भ किया क्योंकि अभी हाल में बड़े बड़े पैमाने पर जो साम्प्रदायिक हत्याएं हुई हैं उनको देखते हुए भारत के सांस्कृतिक इतिहास की यह व्याख्या ठहर नहीं सकती। सामूहिक रूप से हिन्दू तो साम्प्रदायिक युग को पीछे छोड़ देना चाहते हैं परन्तु मुसलमानों में इसकी अधिक चिन्ता नहीं देखी जाती। अतः यह कहना अधिक सत्य होगा कि वीर युग और साम्प्रदायिक युग के ऊपर आर्थिक युग लाद दिया गया था और यद्यपि साम्प्रदायिक युग समाप्त हो रहा है पर हम लोग शेष दोनों युगों से भी गुजर रहे हैं। हां, यह आशा बंधती है कि भारतीय संघ अपने ऐहिक राजनैतिक आदर्श के कारण सम्प्रदायवाद का त्याग करने में सफल हो सकेगा।

यूरोपीय भारतवर्ष में स्वधर्मावलम्बियों की संख्या बढ़ाने तथा विजय प्राप्त करने के उद्देश्य से नहीं आए थे परन्तु उनका उद्देश्य

व्यापार करना तथा लाभ उठाना था। यह तो भारत की राजनैतिक परिस्थिति की विचित्रता थी कि जिसके चलते वे शासक बन बैठे। परन्तु इसके साथ ही साथ ईसाई धर्म भी लगा चला आया। पुर्तगालियों ने प्रथम बलात् मत परिवर्तन का प्रयोग किया परन्तु हिन्दुओं ने तो ऐसे बहुत से दृश्य देखे थे और मुसलमानों को यह सह्य नहीं था अतः पुर्तगालियों को व्यापारिक सफलता भी नहीं मिल सकी परन्तु अंग्रेज परिस्थितियों को बहुत ही सूक्ष्मता से देखने वाले थे अतः उन्होंने स्थानीय धर्मों के साथ हस्तक्षेप में सावधानी बर्ती। परन्तु फिर भी ईसाई धर्म मत परिवर्तन में विश्वास करने वाला धर्म था और अंग्रेजों के साथ ईसाई पादरी भी आए। एक ओर शासकों के द्वारा आर्थिक शोषण का क्रम जारी था दूसरी ओर पादरी लोग शांत उपाय तथा समझाव बुझाव की नीति से धर्म परिवर्तन के काम में संलग्न थे। ईसाई धर्म के साथ ही साथ भारतवर्ष में पश्चिमीय वैज्ञानिक, राजनैतिक और सामाजिक शिक्षा ने प्रवेश किया। अतः अंग्रेजों के आगमन का अर्थ यह था कि हिन्दू समाज को जिसने अभी तक अपने सामाजिक संघर्षों का सामाजिक या राजनैतिक हल नहीं किया था उसे एक बहुत ही जटिल परिस्थिति का सामना करना पड़ा। यह सचेतन पूर्व और सचेतन पश्चिम का सम्मेलन था जो अपने अपने गुणों और दुर्गुणों के साथ उपस्थित थे।

यद्यपि अंग्रेज शासकों ने स्थानीय धर्मों के साथ हस्तक्षेप नहीं किया परन्तु उन्होंने अपना लाभ इसी में देखा कि सम्प्रदायवाद को बलपूर्वक समाप्त न कर दिया जाय। वे चाहते तो ऐसा कर सकते थे। ईसाई धर्म के नाम पर नहीं परन्तु विज्ञान और बुद्धि के नाम पर। उन्होंने जहाँ तक हो सका विभाजन और शासन की नीति के नाम पर सम्प्रदायवाद को उस हद तक जीवित रखा जिस हद तक कोई सम्प्रदाय इतना शक्तिशाली न हो जाय कि वे उसका नियंत्रण न कर सकें। मद्रास जैसे प्रान्त में जहां साम्प्रदायिक संघर्ष जोरों पर नहीं था वहीं

उन्होंने जातीय संघर्ष की सृष्टि की। इसका नतीजा यह हुआ कि पुराने वैर भावों में इतनी अभिवृद्धि नहीं हुई परन्तु नए वैर भाव बढ़े और भारतीय समाज देखने में अधिक से अधिक असंगठित लगने लगा तथा नई नई जटिल समस्याएं सामने आईं जिनसे अंग्रेज धार्मिक तटस्थता के नाम पर बचते रहे। क्योंकि यदि वे बल प्रयोग के द्वारा अथवा समझाव बुझाव की नीति के द्वारा भारतीय समाज में एकत्व लाने की कोशिश करते तो शासक रूप में उनकी स्थिति बहुत पहले ही कमजोर हो गई होती। राजनैतिक एकता की स्थापना तो हुई परन्तु प्राचीन भारत में भी जो कुछ सामाजिक एकता थी वह ढीली पड़ गई।

साथ ही साथ अप्रत्यक्षरूप से पादरियों के व्यापारों को प्रोत्साहित किया जाने लगा क्योंकि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से शासकों के लिए यह लाभ कर था कि जनता के हृदय में उनके धर्म और संस्कृति के लिए आदर के भाव उत्पन्न हों। चूंकि बलप्रयोग के द्वारा मत परिवर्तन वाली नीति स्वीकृत नहीं थी अतः पादरियों को अपना काम समझाव बुझाव तथा तर्क से निकालना पड़ता था और यहीं पर वे भारतीय दर्शन के साथ तार्किक संघर्ष में आए और उनका सामना करने के लिए उन्हें उसका अध्ययन आवश्यक हो गया।

ईसाई पादरियों के आक्रमण के लक्ष्य ये थे — हिन्दू वर्णव्यवस्था, मूर्ति पूजा, हिन्दू और मुस्लिम समाज में नारियों की स्थिति और बाल-विवाह, अनिवार्य वैधव्य, सती और लोक प्रथा का अभाव जैसी कुछ परम्परागत रूढियां। छोटी जातियों की अशिक्षा और सारे देश में स्वास्थ्योपचार सम्बन्धी सहायता के अभाव (जो अव्यवस्थित परिस्थितियों का परिणाम था) के कारण भी इन पादरियों को मानवतावादी व्यापारों के लिए काफी क्षेत्र मिला। इन्हें अपने देशों से इसके लिए काफी आर्थिक सहायता मिलती थी और वे इसका अर्थ यह लगाते थे कि भारतीयदर्शन और धर्म में मानवतावाद के अभाव के कारण ही ये

अभाव दृष्टिगोचर होते थे। साथ ही इस बात का भी वे दावा करते थे कि ईसाई धर्म में यह मानवतावाद वर्तमान है। उन्होंने शैक्षणिक संस्थाएं और अस्पताल बनवाए। इस तरह अपने नए मानवतावाद के प्रति लोगों के हृदय में आस्था के भाव उत्पन्न किये और यह बतलाने की कोशिश की पूर्वीय आध्यात्मिक सन्यास के आदर्शों से अधिक यह समाज के लिये हितकारी है।

ईसाई प्रचारकों की आलोचनाओं और उनकी हलचलों के साथ जीवन और संस्कृति सम्बन्धी अनेक मनोरंजक समस्याएं सम्बद्ध हैं। इस्लाम धर्म ने अपने धर्म तथा सामाजिक परम्पराओं के सम्बन्ध में किसी तरह के तर्क वितर्क की अनुमति नहीं दी थी परन्तु हिन्दुओं ने उनका स्वागत किया। नीची जाति के हिन्दू लोग उच्च दार्शनिक संस्कृति से बहुत कम ही लाभ उठा पाए थे। अतः जहां तक उनका सम्बन्ध है बहुतों ने मुसलमान धर्म ग्रहण कर लिया जैसे बंगाल में। परन्तु उच्च जाति के हिन्दुओं ने दार्शनिक समस्या संबन्धी तर्क वितर्कों का ही स्वागत नहीं किया अपितु प्रचारकों के द्वारा स्थापित शैक्षणिक संस्थाओं से भी पूरा लाभ उठाया। अतः उच्च जातियों के मध्य में बौद्धिक और मानवतावादी विचारों के प्रचार के लिये इन प्रचारकों से भी बड़ी सहायता मिली। उच्च जाति के हिन्दुओं ने मौलिक वर्णिक भेद के आधार पर स्थापित जाति भेद की कृत्रिमता को पहले पहल अनुभव किया। यद्यपि प्रचारकों को अपने मत के लिये बहुत से धर्म परिवर्तन करने वाले लोग तो नहीं मिल सके परन्तु उन्हें अपने विचारों के बहुत समर्थक तो अवश्य मिल गए। हिन्दुओं ने सबसे पहले अंग्रेजी शिक्षा को अपनाया और नये विचारों के महत्व को पहचाना।

यद्यपि ईसाई धर्म भी हिन्दू धर्म की तरह पारलौकिक है परन्तु इसकी उत्पत्ति जूडेइज्म जैसी श्रेणीबद्ध धर्म के वातावरण में हुई थी और इसका प्रचार और विकास प्राचीन काल तथा पुनर्जागरण काल के बाद भी ग्रीक धर्म और दर्शन की छत्रछाया में हुआ था। अतः इसमें मानवता-

वादी और बौद्धिक रंग गाढ़ा हो गया था। यह सर्व विदित है कि पश्चिम में विज्ञान ईसाई धर्म के सहयोग से नहीं फूला फला परन्तु इसके वावजूद ही फूला फला। इस्लाम के सम्प्रदायवाद में भी मानवतावाद के कुछ तत्व हैं। यदि यूरोप में ईसाई प्रच रकों ने राजाओं से सहायता प्राप्त कर शिक्षा और स्वास्थ्य सुधार सम्बन्धी कार्यों को अपने हाथ में लिया तो ठीक उसी तरह प्राचीन भारतीय नियमों के अनुसार राजाओं को अपने कर की आय का छठा हिस्सा इसी तरह के व्यापारों पर खर्च करना पड़ता था। यद्यपि इस्लाम के आगमन के पश्चात् यहां के सम्राट अपने राज्य की अव्यवस्थित और डांवाडोल परिस्थिति के कारण यह अनुदान करने में असमर्थ थे। फिर भी जब ईसाई धर्म ने भारतवर्ष में प्रवेश किया तो इसने तत्कालीन स्थानीय धर्मों के विरोध में अपने मानवतावाद के सहारे अपने मानवतावादी स्वरूप को प्रतिष्ठित किया। इसने भारतीय नारियों की तथा नीची जातियों की दयनीय अवस्था का उत्तरदायित्व भारतीय धर्म के अमानवतावादी रूप पर तथा भारतीय दर्शन के अनीतिमूलक रूप पर रक्खा।

यहाँ इस बात की याद दिलाना आवश्यक नहीं कि हिन्दू धर्म की ठीक ठीक परिभाषा देने के प्रयत्न में सफलता नहीं मिल सकती। ईसाई धर्म की तरह यह एक व्यक्ति की बनाई हुई चीज नहीं है। यह मनुष्य की आध्यात्मिक जिज्ञासा के कारण स्वाभाविक रूप में उत्तरोत्तर उन्नत होता गया और उस विकास प्रक्रिया की बहुत सी विशिष्टतायें इसमें वर्तमान हैं। यह मनुष्य की आध्यात्मिकता के मूल सिद्धांत पर आधारित है और आन्तरिक शक्ति की प्राप्त को यह मानवजीवन का चरम लक्ष्य समझता है। यह हर तरह के साम्प्रदाय तथा पूजा पद्धति को प्रोत्साहन देता है इतनी सी शर्त पर कि वे मौलिक आध्यात्मिक सत्य का साथ दें। अतः, इसे दूसरे धर्म को नष्ट करने की न तो आवश्यकता ही है और न इसने ऐसा किया ही। अतः, इसने सर्व धर्मों की एकता की

घोषणा की और इसकी अनिर्वचनीय सहिष्णुता विश्व की कहानी बन गई। इस प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि इस धर्म में तरह तरह की पूजा पद्धतियों का विकास हुआ। यद्यपि मूर्ति को एक ही भगवान का प्रतीक मानकर इसकी व्याख्या की जाती है। स्थूल से स्थूल सम्प्रदायों पर भी इस आन्तरिकता की छाप देखी गई परन्तु बाह्य रूप भी बने रहे और बहुत से अनुयायियों ने उनके महत्व को भुला दिया। कहना तो यह चाहिए कि बहुत से रूप जो अशोभनीय और क्रूर व निन्दनीय समझे जाते थे उन्हें मना किया जाता था। आठवीं शताब्दी में शंकर ने बहुत से ऐसे निषिद्ध रूपों की सूची बनाई।* इस समय भी उनका अनुकरण करने के कारण लोगों को जातिच्युत कर दिया जाता था परन्तु साधारण मनोवृति यह थी कि यदि उग्र रूप में ये सामाजविरोधी रूप न धारण कर लें तो कोई विशेष चिन्ता की बात नहीं। जो कुछ हो हिन्दू धर्म में सब सामाजिक व धार्मिक रूपों का स्थान था यदि वे आन्तरिक सत्य की सत्यता को अस्वीकृत नहीं करते और हिन्दू धर्म पर ही कुठाराघात करने का प्रयत्न नहीं करते। अतः हिन्दुओं ने ईसाई प्रचारकों की शिक्षा के प्रति कान नहीं मूंद लिए और उन्हें इसमें कोई सार नहीं प्रतीत हुआ कि ईसाइयों के विचार तथा उनके सुधार हिन्दू धर्म में क्यों नहीं अपनाये जायं। यदि यह पूर्ण रूप से अपने रूप को भूल कर ईसाई हुए बिना संभव हो। इसके अलावा उनको कोई ऐसा दूसरा धर्म नहीं दृष्टिगोचर हुआ जो उन्हें ब्रह्म की प्राप्ति तथा आन्तरिक ज्योति के सम्मेलन से उद्‌भूत आनन्द के धनीभूत स्वरूप को इतनी अच्छी तरह दिखला सके। दूसरे धर्म इस आनन्द के आश्वासन तो देते थे परन्तु दूसरे लोक में जिसे हिन्दू इसी लोक और इसी शरीर के द्वारा आध्यात्मिक साधना की शर्त पर देने के लिए तैयार थे। उनका विचार था कि अनुभूति ही प्रमाण है और कोई तर्क वितर्क उनके इस विश्वास की जड़ नहीं हिला सकता था। वर्डस्वर्थ की "Ode to immortality"

---

* वामाचार पद्धतियां निषिद्ध हैं।

नामक कविता से वे अधिक प्रभावित थे क्योंकि वह उनके ही विचारों की प्रतिध्वनि सी करती मालूम पड़ती थी। हिन्दू अपने प्राचीनों के आविष्कारों से हाथ धोना नहीं चाहते थे। वे हिन्दू धर्म की रक्षा करना चाहते थे और यथा अवसर इसमें सामाजिक और धार्मिक सुधारों के द्वारा इसकी त्रुटियों को परिमार्जित भी करते चलना चाहते थे।

अतः हिन्दुओं ने ईसाई धर्म की सांस्कृतिक ललकार का आदर किया और प्रचारकों के द्वारा प्रचलित पश्चिमीय शिक्षा को तत्परता के साथ अपनाया। शासकगण भी भारतीयों को अंग्रेजी शिक्षा देने में दिलचस्पी लेते थे। इसके कारण थे। प्रथमतः, तो इसके द्वारा उन्हें छोटे क्लर्कों और छोटे छोटे अफसरों के मिलने की संभावना थी और द्वितीयतः वे भारतीयों को लोकतंत्रीय पद्धतियों की शिक्षा देना चाहते थे। एक यह बात भी है कि लार्ड मैकॉले की राय भारत की परम्परा गत शिक्षण पद्धति के बारे में बहुत ही तुच्छ थी अतः उन्होंने शिक्षा में पश्चिमीय पद्धतियों का प्रवेश अनिवार्य कर दिया जिसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय अंग्रेजी साहित्य से ही नहीं परन्तु अंग्रेजी राजनैतिक विचार धारा और संसदीय रूपों से भी परिचित हो गये। फलस्वरूप भारत की राजनैतिक और राष्ट्रीय चेतना का विकास हुआ।

सांस्कृतिक और बौद्धिक उन्नति की दृष्टि से भारत का अंग्रेजों के साथ संपर्क में आना मुसलमानों के संपर्क से अधिक महत्वपूर्ण रहा। लोगों के स्थानीय धर्मों व उनके सामाजिक रीतिरिवाजों के प्रति हस्तक्षेप की नीति का अनुकरण करते हुए शासकों को भारतीय हृदय को समझने की आवश्यकता महसूस हुई। १७८४ में विलियम जोन्स ने बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना की। पहले हम लोगों के धर्मशास्त्र और बाद में हमारे साहित्यिक और दार्शनिक ग्रन्थों का अनुवाद हुआ। गैटे, मैक्समूलर, श्लेगेल और ट्यूसन जैसे अनेक मनीषियों के द्वारा भारतीय दर्शन और साहित्यिक प्रतिभा की जो प्रशस्ति गाई गई

उन्होंने भारतीयों को भी अपने प्राचीन दर्शन और साहित्य के प्रति आकर्षित किया जिसे वे पश्चिमीय शिक्षा के प्रभाव में जा कर भूलने से लगे थे ।

परिणाम यह हुआ कि पश्चिमीय आलोचना के आलोक में प्राचीन विद्वत्ता का पुनर्जागरण हुआ । यह भारतीय पुनर्जागरण का युग था जो पूर्व और पश्चिम के सांस्कृतिक संघर्ष की उपज था । भारत के प्रमुख विचारकों ने इस बात को महसूस किया कि साधारणतः पश्चिमीय संस्कृति की अपेक्षा भारतीय संस्कृति और दर्शन की आध्यात्मिकता की नींव बहुत गहरी है । परन्तु साथ ही साथ उसी तुलना ने उसके एकांगी विश्वास की ओर भी ध्यान दिलाया और इस बात से लोगों को अवगत कराया कि इसके कुछ पहलुओं का केवल स्थानीय और सामूहिक महत्व है जो शाश्वत नहीं हो सकता यद्यपि उसी संस्कृति के सूक्ष्मातिसूक्ष्म सत्य सार्वभौमिक और शाश्वत महत्व के हो सकते हैं । दूसरे शब्दों में मानव और मानवीय हितों को बहुत छोटा करके देखा गया और लोकप्रिय दर्शनों में तो उनकी अवहेलना ही नहीं परन्तु निन्दा भी की गई है ।

हमारी प्राचीन संस्कृति कहीं कहीं एकांगी हो गई है । इस बात के ज्ञान के कारण कितने ही सुधार के आन्दोलन उठ खड़े हुये हैं । प्राचीन गौरव के ज्ञान ने भारतीयों में आत्म चेतना भर दी और वे अनुभव करने लगे कि यद्यपि उन्हें पश्चिम वालों के साथ अधीन और शासित रूप में पेश आना पड़ता है परन्तु कम से कम भारतीय राष्ट्र के प्रतिनिधि होने के नाते वे आध्यात्मिक क्षेत्र में तो अपने को उंचा समझ सकते हैं । भारत की राष्ट्रीय चेतना का विकास आरम्भ हो गया परन्तु प्रारम्भ में राष्ट्रीय नेताओं ने यह अनुभव किया कि भारतीय के मस्तिष्क की गहराई आन्तरिक प्रवृत्ति राष्ट्रीयता की पुकार के प्रति पूर्ण रूप से क्रिया तत्पर नहीं होने देती । दूसरे शब्दों में मानवता-वाद की पुकार भारतीयों के

लिये काफी बलवती नहीं सिद्ध हुई। अतः तिलक ने इस आन्तरिकता एकांगिता को दूर करने का प्रयत्न किया। बुद्ध धर्म के उत्थान पतन और आत्मसात करने के बाद ज्ञानमार्गीय संन्यास पर जोर दिया जाने लगा था परन्तु यह कहना अन्याय नहीं होगा कि प्रारम्भिक आर्यों ने इस बात का ज्ञान पा लेने के बाद भी कि चरम सत्य आन्तरिक है वाह्य नहीं कर्म मार्ग पर भी उतना ही जोर दिया था। आठवीं शताब्दी में बौद्ध धर्म के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया हुई उसमें कुमारिल नामक एक नेता ने संन्यास मार्ग की अत्यन्त निन्दा की और वैदिक कर्म अर्थात् यज्ञ आदि अनुष्ठान की ओर लौट चलने की सिफारिश की। इस संसार के मूल्यों को ठुकराना नहीं चाहिए परन्तु तत्परता के साथ उनकी प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील होना चाहिए। किंवदन्ती है कि जब शंकर ने कुमारिल को इस बात का विश्वास दिलाना चाहा कि संन्यास धर्म की निन्दा गलत है तो उस समय कुमारिल मरणासन्न थे और उन्होंने शंकर को अपने शिष्य मंडन के यहाँ जाने को कहा। वैदिक धर्मानुयायी संन्यासियों को इतनी अवहेलना की दृष्टि से देखते थे कि अपने पैतृक समारोहों पर उनकी उपस्थिति वर्जनीय थी। शंकर जब ऐसे अवसर पर मंडन के घर पहुँचे तो वहां के लोगों में बड़ी गड़बड़ी मच गई। शंकर ने तर्क में मंडन को पराजित किया और उन्हें अपना शिष्य बनाया। इस घटना को ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य न भी मानें तो भी इसके द्वारा प्रारम्भिक ब्राह्मणों और बुद्ध धर्म के दृष्टिकोण में अन्तर का पता चल जाता है। यद्यपि शंकर बौद्ध धर्म की बराबर आलोचना करते रहे तो भी उनके प्रतिद्वन्द्वियों ने उन्हें प्रच्छन्न बौद्ध कह कर ही पुकारा परन्तु फिर भी बुद्ध धर्म के सर्वश्रेष्ठ गुणों को अपना कर ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर देना कि बुद्धधर्म के पृथक् अस्तित्व की कोई आवश्यकता ही नहीं बस इतना ही कर रहे थे शंकर स्मार्त तथा उपनिषद, ब्रह्मसूत्र तथा भगवद्गीता, जो वेदांन्त दर्शन की त्रिपुटी है, के व्याख्याता माने जाते थे और रामानुज और माधव को लोग सम्प्र-

दायवादी समझते थे। इन दोनों में इतना ही अन्तर है कि जहां स्मार्त व्याख्याकार वेद को ही सर्वोत्तम आधार मानता है वहां दूसरे लोग अन्य आगमों का उतना ही या उससे अधिक महत्व देते थे। शंकर के इस रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेने से यह पता चलता है कि धार्मिक कट्टरता को भी बौद्ध संन्यास के अनुरूप व्याख्या करने के लिए प्रेरित किया जा सकता है।

रामानुज, माधव तथा अन्य साम्प्रदायिक वेदान्तियों के अनुसार भक्ति सब मार्गों में श्रेष्ठ है परन्तु चाहे भक्ति-मार्ग हो या ज्ञान-मार्ग, कर्ममार्ग को महत्वहीन समझने की प्रवृत्ति बढ़ने लगी थी। परन्तु राष्ट्रीयता के विकास के बाद जब भारतवर्ष में सुदृढ़ और सच्चे रातनीतिक व्यापार की आवश्यकता का अनुभव किया जाने लगा तब नेताओं ने महसूस किया कि प्राचीन धर्म और दर्शन ने लोगों में ऐसी मनोवृत्ति पैदा करदी है जिसके कारण मार्ग में बाधाएँ आ खड़ी होती हैं। तिलक ने गीता पर कर्म मार्ग को पुनर्जागरित करने के लिए अपना भाष्य लिखा जो लाखों भारतीयों के लिए बाइबिल का काम देता है। यह बात ठीक भी है कि निरुत्साहित अर्जुन को जो अस्त्र डाल कर जङ्गल में जाने को तैयार था उसे क्रिया तत्पर करने के लिए ही कृष्ण ने गीता का उपदेश किया कर्मत्याग के लिए नहीं। तब यह बात सही है कि गीता की व्याख्या कर्म मार्ग के आधारपर ही होनी चाहिये अन्य दोनों मार्गों पर नहीं। इस तरह तिलक उन आधुनिक भारतीय विचारकों में सर्वप्रथम है जिन्होंने इस लोक सम्बन्धी दार्शनिक चिन्तन को नए मोड़ पर लाने का प्रयत्न किया। दूसरे शब्दों में उन्होंने उस मानववादी के और क्रिया तत्पर रूप पर जोर देना चाहा जो प्राचीन भारतीय विचार धारा के अनुकूल था। तिलक के विचारों के पीछे काम करने वाली प्रेरणा राधाकृष्णन्, टैगोर, भगवानदास तथा अरविन्द घोष जैसे प्रमुख समकालीन दार्शनिकों में पाई जा सकती है।

भारतीय धार्मिक और दार्शनिक साहित्य में गीता का स्थान अद्वितीय है। वह प्राचीन प्रस्थानत्रयी में से ही एक नहीं है परन्तु इसमें तत्व चिन्तन और जीवन दर्शन का विभिन्न सम्मेलन हुआ है। चूंकि यह महा भारत का एक अंश है अतः शूद्र भी जिन्हें परम्परा से वेदाध्ययन की मनाई थी वे भी इसे पढ़ कर वैदिक शिक्षा प्राप्त कर सकते थे। यह परिस्थिति अब बदल गई है। यह तत्व-चिंतन और जीवन दर्शन का ग्रन्थ है सबके लिए चाहे वह किसी जाति का क्यों न हो। यह हिन्दू धर्म के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में एकसूत्रता स्थापित करने वाला ग्रन्थ बन गया। अतः भारतीय नेताओं में से बहुतों ने इस पर भाष्य लिखना नियम सा बना लिया है। महात्मा गांधी ने अपने अहिंसा धर्म के प्रचार के लिए गीता पर टीका लिखी। राधाकृष्णन् ने अंग्रेजी में एक दूसरी टीका लिखी जिसमें उन्होंने लोक संग्रह के लिए तटस्थ भाव से कर्मरत होने वाले सिद्धांत का प्रतिपादन किया जो यूनेस्को के आदर्शों से मेल खाता है।

प्राचीन काल में भी आन्तरिकता पर जोर देने वाले सिद्धांत का मानव स्वभाव पर अनर्थकारी प्रभाव पड़ने वाली बात की ओर लोगों का ध्यान गया था। वीरसाधना नामक एक सम्प्रदाय का आविष्कार हुआ जो व्यवहार में मातृशक्ति का उपासक था। बहुत दिनों तक शक्ति की ही तांत्रिक उपासना का केन्द्र बङ्गाल रहा जिसमें मजे की बात तो यह है कि विश्व के ध्वंसात्मक पहलुओं के साथ इसका तादात्म्य किया गया। इस पूजा के साथ साथ पशुओं की हिंसा होती थी, शाकाहारिता तथा हत्या के प्रति उदासीनता आदि का इस सम्प्रदाय में कुछ भी स्थान नहीं था। इसके सिवाय शक्ति की साधना के लिये निशीथ में श्मशान भूमियों पर जाना और कुछ ऐसी ही बातें जिन्हें प्राचीन हिन्दू धर्म निन्दनीय समझता था इसमें नियमित रूप से मान्य थीं जिसके द्वारा स्वभावतः मनुष्य में मानसिक काठिन्य आ जाता है। साथ साथ युद्ध-प्रिय जातियों में देवी और देवताओं के भयानक रूपों की पूजा प्रचलित थी ताकि उनमें युद्धोपयोगी

मनोवृत्ति का विकास हो सके। उदाहरणार्थ, शिवाजी देवी भवानी की पूजा करते थे और वारंगल के कैटिया लोग काकटि देवी की पूजा करते थे। ब्रिटिश शासन को बल प्रयोग द्वारा हटाने वाले बङ्गाल के क्रांतिकारियों ने पूजा के इसी रूप को पुनर्जीवित किया और अपने लिए अपनाया। एक समय अरविन्द भी इस क्रांतिकारी दल में सम्मिलित थे और सक्रिय राजनीति के हट जाने पर भी मातृशक्ति की पूजा करना उन्होंने छोड़ा नहीं।

पश्चिमीय संस्कृति के सम्पर्क के कारण भारत में बहुत ही महत्वपूर्ण परिवर्तन और सुधार प्रारम्भ हुए परन्तु इन सुधारों के नेता ने एक मत से स्वीकार किया कि प्राचीन भारतीय दर्शन और संस्कृति में आध्यात्मिक सत्य का चरमोत्कर्ष प्राप्त है जिसके लिए दूसरे धर्मों के पास जाने की कोई आवश्यकता नहीं। इन परिवर्तनों और सुधारों को चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है, राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक और दार्शनिक।

यद्यपि एकदम निश्चित रूप में तो नहीं परन्तु राष्ट्रीयता के बीज प्राचीनकाल में भी खोजे जा सकते हैं। परन्तु राष्ट्रीयता अपने आधुनिक रूप में ब्रिटिश प्रभाव के कारण तथा उसके बावजूद भी उत्पन्न हुई। ब्रिटिश प्रभाव के कारण तो इसलिए कि इन्होंने प्रथम राजनैतिक शासन और संगठन की दृष्टि से सम्पूर्ण भारत को एकता के सूत्र में बांधा जिसका सामाजिक, साम्प्रदायिक भाषासम्बन्धी तथा अन्य सांस्कृतिक बातों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं था। भारतवर्ष में राजनैतिक दृष्टि से एक ही आदर्श उन्होंने सामने रक्खा और इस भावना ने उनकी इच्छा के विरुद्ध भी समूर्त रूप धारण किया क्योंकि ब्रिटिश नौकरशाही इस बात के लिए उत्सुक नहीं थी कि इस आदर्श के द्वारा भारत में एकता के भाव जगें। देश को राष्ट्र के रूप में महिमान्वित होने और उसे भारत माता के रूप में पूजित होने के साथ साथ यह भावना जगी कि भारत का शासन अब

भारतीयों के लिए है अंग्रेजों के लिए नहीं। और आगे चल कर इसने बहुत ही महत्वपूर्ण रूप धारण किया। यह सिद्धांत कि भारत आर्थिक दृष्टि से भी एक हो पहले पहल लोगों के सम्मुख उतनी स्पष्टता से नहीं आया था जितना यह कि भारत अपने देशवासियों के लिए और देश-वासियों से शासित हो। यह सिद्धांत भी एक दूसरे सिद्धांत के साथ मिलकर जटिल हो गया था कि भारतवर्ष को धार्मिक दृष्टि ते भी एक होना चाहिये। यही मुस्लिम लीग का आदर्श था। जो कुछ हो इन जटिलताओं के रहते भी कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग ने परोक्ष या अपरोक्ष रूप में इन सिद्धांतों को स्वीकार कर लिया था कि मनुष्य के रूप में भारतीय नागरिकों की दशा में सुधार होना चाहिये कि उसे सब सुख सुविधाएँ मिलनी चाहिये। अतः उसे अपनी राजनैतिक और आर्थिक परतन्त्रता के विरुद्ध युद्ध छेड़ना चाहिये। इन सब आदर्शों के चलते एक नया दार्शनिक आदर्श आया कि राजनैतिक कार्यों में व्यक्ति को साध्य और साधन दोनों रूपों में महत्व देना चाहिए। मीमांसा में जो सबसे प्राचीन शास्त्र है अपने अनुष्ठानों के लिए मनुष्य को महत्व साधन और साध्य दोनों रूपों में स्वीकृत कर लिया गया था। इसी सिद्धांत पर तिलक ने अपने कर्मयोग के दर्शन में जोर दिया और इसे वेदान्ती विचारधारा के रूप में उपस्थित किया क्योंकि गीता वेदान्ती दार्शनिकों के लिए वृहदत्रयी में महत्वपूर्ण हो गई थी। महात्मा गांधी ने अपनी विद्वत्ता का दावा नहीं पेश किया है और अपने विचारों को उन्होंने मानववाद या एकतावाद के रूप में प्रगट नहीं किया है फिर भी उनके सिद्धांतों में व्यक्ति के महत्व का पूर्ण मूल्य माना गया है। समाज की नुकताचीनी के विरुद्ध भी सत्य के प्रति अटल रहने वाले सिद्धांत को पोषण करने वाले सत्याग्रह में तथा दरिद्रनारायण की सेवा में राजनैतिक शक्तियों को लगा देने वाले सिद्धांतों में यह बात प्रच्छन्न रूप से आ गई है। मनुष्य व्यक्ति के रूप में महत्वपूर्ण है। इसलिये नहीं कि उसमें एक सार्वभौमिक शक्ति का निवास है। महात्मा गांधी ने अपने राजनैतिक आदर्शों की व्याख्या धर्म के शब्दों में की परन्तु धर्म से उनका मतलब

केवल आध्यात्मिकता या कोई संगठित धर्म नहीं था। जब उन्होंने कटेम्परी फिलासफी, नामक ग्रंथ में अपना निबन्ध लिखा था उस समय तक उनका ईश्वर सत्य का पर्यायवाची हो गया था जो उनके मतानुसार सब धर्मों का ईश्वर है। परन्तु गांधी जी की इच्छा के वावजूद भी धर्म शब्द ने प्राचीन सम्प्रदायवाद और कट्टरता के भाव जागृत किये। कहां तो गांधी जी का उद्देश्य था एक ऐसी व्यापक लौकिक तथा आध्यात्मिक राष्ट्रीयता का विकास हो जो हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मों को अपने बौद्धिक स्तर पर मिला दे पर परिणाम दूसरा ही हुआ। एक ओर मुस्लिम लीग की साम्प्रदायिक राष्ट्रीयता का विकास हुआ जिसमें धार्मिक आदर्श वाद का रंग था दूसरी ओर हिन्दू महासभा के द्वारा उसी तरह की हिन्दू राष्ट्रीयता का विकास हुआ और यदि इस आन्दोलन के विरुद्ध सत्ताधारी कांग्रेस ने मजबूत कदम नहीं उठाये होते तो वह आज फली-भूत होकर रहती। मुस्लिम लीग की उत्तेजनाओं, वक्रोक्तियों तथा दोषा-रोपण के वावजूद भी कांग्रेस लोकोन्मुख आध्यात्मवाद पर डटी रही। अपने लौकिक दृष्टिकोण के कारण कांग्रेस ने व्यक्ति के मूल्य को मुस्लिम लीग से अधिक महत्व दिया। मुस्लिम लीग तो व्यक्ति के महत्व को मुस्लिम समाज के एक व्यक्ति के रूप में ही स्वीकार करती है। इस तरह वह मनुष्य और उसके मौलिक अधिकारों को मुस्लिम समाज तथा धार्मिक राज्य के अधीन कर देती है। अतः मुस्लिम लीग के सिद्धान्तों में राज्य के सामने व्यक्ति की अधीनता तथा एक तरह की धार्मिक ताना-शाही पर अधिक जोर दिया गया है जो बात कांग्रेस के आदर्श में नहीं पाई जाती।

जो कुछ हो इण्डियन नेशनल कांग्रेस के लौकिक परन्तु बौद्धिक और आध्यात्मिक आदर्श में साम्यवादी और समाजवादी आदर्श के कारण अधिक जटिलता आ गई है जो पाकिस्तान के धार्मिक राज्य में नहीं आने पाई है। साम्यवाद के पूर्णतया लौकिक और आधिभौतिक आदर्शों के मुकाबले में पाकिस्तान अपने धार्मिक आदर्शों को खड़ा करता

है परन्तु अन्य देशों की तरह भारत की लोकोन्मुखी राजनीति के कारण साम्यवाद और साम्राज्यवाद के लिए भी यहां कुछ गुंजाइश हो ही जाती है। दूसरी ओर जब कभी भी ऐसा अवसर आया कि समाजवादी और साम्यवादी बुद्धिवाद धार्मिक अबुद्धिवादिता की कट्टरता को तोड़ने में समर्थ हुआ तब साम्यवाद की आदिभौतिकता की उग्रता पर अकुंश देकर उसे एक उच्चतर और आध्यात्मिक स्तर पर ले जाने वाली कोई शक्ति नहीं रह जायगी। परन्तु भारतवर्ष में यह बात नहीं होगी। यहां आध्यात्मिकता के आधार पर खड़ी होने वाली लोकोन्मुखी राष्ट्रीयता अपनी मनोवैज्ञानिक और बौद्धिक प्रेरणा के कारण साम्यवाद को आध्यात्मिक रूप में परिणत कर देगी तब वह एक दूसरे ही रूप में हमारे सामने आयगा क्योंकि आध्यात्मिकता तो वैज्ञानिक होती है। मनुष्य की आध्यात्मिकता मनुष्य के द्वारा ही उपलब्ध हो सकती है। प्रजातन्त्र की नींव व्यक्ति की प्रतिष्ठा पर डाली जाती है और उसमें इस बात को स्वीकार किया जाता है कि मनुष्य की वैयक्तिकता सामाजिक सम्बन्धों के कारण नष्ट नहीं होती।

साम्यवाद और प्रजातन्त्र दोनों मानववादी होने का दावा करते हैं और एक दूसरे की आलोचना यह कह कर करते है कि वे पूर्णरूप से मानवतावादी नहीं हैं। पहले का कथन यह है कि प्रजातन्त्र व्यक्ति की मर्यादा की रक्षा करने का दम तो भरता है परन्तु उसे आर्थिक तथा व्यावहारिक सुविधा नहीं देता कि वह अपनी शक्तियों और मानवमूल्यों को पूर्णतया उपलब्ध कर सके। दूसरा इस बात की ओर संकेत करता है कि साम्यवाद व्यक्ति को समाज में विलीन कर देता हैं। व्यवहार में व्यक्ति सत्ताधारी गुट का खिलौना मात्र रह जाता है और यह सत्ताधारी दल अपने स्वार्थों को ही समाज का स्वार्थ बतलाता है। साम्यवाद में तानाशाही अन्तर्हित है। अतः साम्यवादी आदर्श में व्यक्ति और वैयक्तिक प्रेरणाओं का महत्व रह ही नहीं जाता। भारतवर्ष अभी अपने शासन

विधान के बाद भी किसी खास एक दृढ़ राजनैतिक आदर्श को अपना नहीं सका है। इसके रूप पाकिस्तान की अपेक्षा अधिक लचीले हैं। पाकिस्तान ने तो धार्मिक इस्लामिक राज्य के द्वारा दृढ़ सिद्धान्त को दृढ़तापूर्वक अपना लिया है। यदि इसमें कोई परिवर्तन होगा तो हिंसा और प्रतिशोध के द्वारा ही होगा।

ईसाई धर्म के सम्पर्क ने बहुत से सुधार आन्दोलनों का सूत्रपात किया। धार्मिक सुधारों से सामाजिक सुधारों को अलग करना कठिन है। कारण कि विश्व के अनेक देशों में सामाजिकता नियम धर्म के आधार पर ही खड़े होते हैं। सरकार के कानूनों व आज्ञाओं को छोड़कर शेष जितने सामाजिक सुधार हैं वे धर्म से घुले मिले हैं। सामाजिकता से अधिक धार्मिकता को लेकर चलने वाले अनेक आन्दोलनों में रामकृष्णमिशन सबसे महत्वपूर्ण है। रामकृष्ण के शिष्य स्वामी विवेकानन्द को श्रेय इस बात के लिये मिलना चाहिये कि शूद्र होते हुए भी उन्होंने अनेक अनर्थक सुधारों का समर्थन नहीं किया जब कि शूद्रों के कुछ नेता वर्णव्यवस्था की आन्तरिक प्रेरणा को भूल रहे थे। यद्यपि ब्राह्मणों ने अपने आदर्शों का पूर्ण रूप से पालन नहीं किया था फिर भी ब्राह्मण धर्म की उच्चता में अविश्वास नहीं किया जा सकता था। स्वामी विवेकानन्द ने अपने मठों में हर एक जाति के पुरुष व नारी को स्थान दिया परन्तु फिर भी वे अपने को शंकर का अनुयायी ही मानते रहे। यदि प्राचीन सामाजिक संगठन में परिवर्तन किया जाय और विभिन्न जातियों और समूहों में अन्तर्विवाह की प्रथा चलाई जाय तो इसमें हिन्दू आध्यात्मिकता के लिए विवेकानन्द ने कुछ भी भय की बात नहीं देखी। बिना नई जातियों और उपजातियों की सृष्टि के भी ये सुधार किये जा सकते हैं। मानव-वाद के दृष्टिकोण से दूसरा महत्वपूर्ण सुधार जो उन्होंने अपने मठ में चलाया उसे दरिद्रनारायण की पूजा कह कर पुकारा। यद्यपि साम्यवादी इसे मानववाद न कहकर उदारता वाद कहेंगे पर जिस समय विवेकानन्द ने

इसका प्रचार किया उस समय हिन्दुओं के लिये यह नई बात थी क्योंकि प्राचीन परम्परा के अनुसार भारतीय सन्यासियों को समाज में दिलचस्पी लेना वर्जित था। सन्यासी वह था जो परिवार धन और समाज सबसे सन्यास ले ले। यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि भारत के एक सबसे बड़ा सपूत स्वामी विद्यारण्य विजयनगर साम्राज्य में बहुत ही दिलचस्पी लेते थे। इसी तरह स्वामी रामदास शिवाजी की हलचलों के साथ। यह अपवाद है और ये बहुत ही संकटमय परिस्थिति की उपज था।

ईसाई धर्म ने हिन्दू धर्म को बहुत ही सूक्ष्म रूप से प्रभावित किया परन्तु स्वयं भी कुछ परिवर्तित हुआ। पश्चिमीय प्रचारक भारत में जिस ईसाई धर्म का प्रचार करते थे उससे भारतियों की आध्यात्मिक पिपासा संतुष्ट नहीं हुई क्योंकि उनकी दृष्टि समाज सेवा के आगे जाती ही न थी। आध्यात्मिकता सामाजिक नीति पर नहीं निर्भर करती चाहे वह कितना ही उच्चकोटि का क्यों न हो। इसका आधार है भगवत्प्राप्ति तथा तज्जन्य आनन्द। साधू सुंदरसिंह और ईसाई आश्रमों को, विशेषत: दक्षिण में, देखने से पता चलता है कि भारतीय ईसाई धर्म को किस रूप में देखना चाहते थे।

लाहौर में अग्निहोत्री महोदय ने देवसमाज की स्थापना की। यह प्रारम्भ में तो ईश्वरवादी था परन्तु आगे चलकर एक तरह से आध्यात्मिक अनीश्वरवाद में परिणत हो गया। यह ईसाई धर्म से अधिक पश्चिमीय वैज्ञानिक विचारों से प्रभावित था। आगरे में श्री तुलसीदास ने राधास्वामियों के सत्संग की स्थापना की। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से देखा जाय तो इसमें योग की प्राचीन पद्धति की मनोवैज्ञानिकता पर जोर दिया गया था। सामाजिक दृष्टिकोण से उद्योगीकरण को इसने अपने कार्यक्रम में स्थान दिया। यह भारतीय धर्म के लिये नई बात थी। इसका लक्ष्य इस बात को स्पष्ट करता था कि संसारिक वस्तुओं में दिलचस्पी आध्यात्मिक विकास में बाधक नहीं।

श्रीमती एनीबेसेंट के द्वारा स्थापित थियोसोफिकल सोसाइटी ने सामाजिक सुधारों को अपना लक्ष्य नहीं बनाया यद्यपि श्रीमती बेसेंट ने राजनीतिक आन्दोलनों में भाग लिया था और अंग्रेजों के द्वारा नजरबंद भी की गई थीं। इस सोसाइटी ने हिन्दू धर्म के इस विचर को कि सब धर्म एक हैं बहुत गंभीरता से अपनाया और इसको व्यवहारिक रूप देने के लिये एक संस्था कायम की। इससे दृष्टिकोण में उदारता आई और अन्तर्जातीय वैवाहिक सम्बन्धों को प्रोत्साहन मिला। इस समाज ने शिक्षा प्रचार के लिये भी बहुत कुछ किया। सबसे बड़ी सेवा श्रीमती बेसेंट ने जो की वह यह है कि उन्होंने प्राचीन आध्यात्मिक परम्परा के लिये भारतियों में गौरव के भाव जगाये। उन्होंने यह बात बतलाई कि अन्य धर्मों में आध्यात्मिकता के नाम पर वैसा कुछ नहीं है जो हिन्दू धर्म में न पाया जाता हो। इसके परिणामस्वरूप भारतीयों में स्वचेतना जगी, भारतीय पुनर्जागरण को सहायता मिली और उठती हुई राष्ट्रीयता कों बल मिला।

जिन आन्दोलनों धार्मिक सुधारों से भी अधिक सामाजिक सुधारों को अपना लक्ष्य बनाया उनमें ब्रह्म समाज, आर्य समाज और प्रार्थना समाज का नाम उल्लेखनीय है। ब्रह्म समाज की स्थापना राजाराममोहनराय ने की थी। वे इस्लाम और ईसाई दोनों धर्मों से प्रभावित थे और जो बहुदेववाद तथा मूर्ति पूजा के विरुद्ध प्रचार करते थे। परन्तु उनकी सर्व-श्रेष्ठ सेवाएं सामाजिक क्षेत्र में हैं। उन्हीं के चलते भारतवर्ष में सती प्रथा समाप्त हुई और उच्च जातियों में विधवा विवाह की प्रथा प्रचलित हुई। उनके बाद इस विचार ने जोर पकड़ा कि नारी पुरुष की छाया मात्र नहीं परन्तु उसका अपना व्यक्तित्व है और आज तो यह अवस्था है कि भारत के शिक्षित समाज के कुछ लोगों में यह विचार इंगलिस्तान से भी प्रबल है।

स्वामी दयानन्द ने आर्य समाज की स्थापना की। उन्होंने भी मूर्ति-पूजा का खंडन किया और वेदों की ओर लौट चलो के नारे का प्रचार

किया। प्रारम्भ में आर्य लोग या तो प्राकृतिक शक्तियों की साक्षात् पूजा करते थे या मनुष्य में रहने वाली शक्ति की। इसलिये दयानन्द का कहना था कि वे मूर्ति की पूजा नहीं करते थे। इतना ही नहीं उन्हें मंदिर या मसजिद की आवश्यकता ही नहीं थी। वैदिक काल के आर्यों के समाज में न तो सती प्रथा थी, न जीवन पर्यन्त अनिवार्य वैधव्य की और न दृढ़ जाति भेद। अपने पति की मृत्यु के पश्चात् विवाह करना या न करना नारी की स्वाधीन इच्छा पर था। उसी तरह जाति का निर्णय जन्मना नहीं कर्मणा होता था। आधुनिक युग के सामाजिक अत्याचार, विद्रूपताएं तथा दुर्व्यवहार, दयानन्द के अनुसार, बाद की उपज है जिनका परित्याग करना चाहिये। उनका तर्क यह भी था कि वैदिक युग में यदि हिन्दू धर्म अन्य धर्मों से लोगों को लेना स्वीकृत करता था तो आज वह क्यों न करे। अतः, उन्होंने धर्म परिवर्तन की प्रथा चलाई। इस तरह उन्होंने जातिवाद और परम्परावाद के विरुद्ध वैयक्तिक मूल्यों पर जोर दिया।

डा० आत्माराम पांडुरंग ने बम्बई में प्रार्थना समाज की स्थापना की। इसके उद्देश्य और कार्यक्रम वही थे जो ब्रह्म समाज के थे।

कोई सामाजिक, धार्मिक या राजनैतिक आन्दोलन देश की दार्शनिक विचारधारा को अप्रभावित नहीं छोड़ सकता। वह बात आज भारत में घट रही हैं यद्यपि स्पष्टतया दृष्टिगोचर नहीं होती (१) पश्चिमीय शिक्षा के फलस्वरूप भारतवर्ष में कोई भी दर्शनशास्त्र का छात्र पश्चिमीय दर्शन से अपरिचित नहीं रह गया है। यह उसके लिये एक तरह से बौद्धिकता का मापदंड बन गया है। (२) भारतीय पुनर्जागरण ने प्राचीन भारतीय दार्शनिकों के लिये भारतीय के हृदय में प्रशंसा के भाव उत्पन्न कर दिये हैं और आज वह उनके विचारों को अपने तथा दूसरों के समक्ष पश्चिमीय दर्शन के शब्दों में व्याख्या करने लगा है (३) यूरोपियों द्वारा भारतीय साहित्य के अध्ययन ने अपनी आलोचना और प्रशंसा के कारण उसमें प्राचीन दर्शन के अध्ययन की पिपासा जागृत कर दी है और वह अपने आलोचकों

को उन्हीं के शब्दों में उत्तर देना और इस बात का पता चलाना सीख गया है कि कहां उसकी श्रेष्ठता छिपी है। इस व्याख्या ने उन्हें इस बात का पता लगाने में समर्थ बनाया है कि तर्क की शृंखला में कौनसी कड़ी तथा दर्शन के विकास का कौन सा चरण छूट गया है। (४) पश्चिमीय वैज्ञानिक विचारधारा ने अपने तर्क के साथ भारतीय दर्शन को प्रभावित करना प्रारम्भ कर दिया है। (५) पश्चिमीय वैज्ञानिक विचार, विशेषतः, विकासवाद के विचार बहुतों के लिये अकाट्य प्रमाणित हुये हैं। (६) पश्चिमीय धार्मिक नेताओं की यह आलोचना है कि भारतीय विचारधारा पूर्णतया मानववादी और लौकिक नहीं है परन्तु ब्रह्मवादी और परालौकिक है। इस आलोचना ने बहुतों को भारतीय विचारधारा का फिर से मूल्यांकन करने के लिये वाध्य किया है। (७) समाजवादी और साम्यवादी विचारधारा यद्यपि भारतीय दार्शनिकों को बहुत दूर तक प्रभावित नहीं कर सकी है परन्तु इसने एक दार्शनिक आलोड़न पैदा जरूर कर दिया है कि दर्शन का केन्द्र व्यक्ति होना चाहिये। समकालीन भारतीयता के दार्शनिक नेताओं जैसे राधाकृष्णन, टैगोर, अरविन्द घोष, भगवानदास की रचनाओं में इन प्रभावों में से अनेक का दर्शन हो सकता है

राधाकृष्णन ने अपनी रचनाओं में कुछ स्थलों पर संसार में नूतन मानववाद के अवतरण की चर्चा की है जिसे उन्होंने अभी व्यवस्थित रूप में विश्लेषण कर अपने दर्शन में सम्मिलित नहीं किया है। उनके इस महत्वपूर्ण कथन को छोड़ भी दिया जाय फिर भी भारत में एक बहुत ही महत्वपूर्ण विचारधारा है जो (Absolute) ब्रह्म के मानवीकरण को अनिवार्य मानती है। इसके लिए ईश्वर पूर्ण रूप से मानवाय बन गया है और मानवीय विचार धारा के ढांचे में ढल गया है। इस तरह मानव विचार और तर्क के सांचे में ढलने से कुछ भी बचा नहीं रह सकता। टैगोर के लिए भी ईश्वर एक चरम व्यक्ति के रूप में Absolute का मानवीकृत रूप है और चूंकि हम Absolute का

मानवीकरण किये बिना और अपने विचारों के अनुरूप उसे समझे बिना उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते अतः मानवबुद्धि के लिये अगाध Absolute के लिये हमारे हृदय में कोई भी दिलचस्पी नहीं उत्पन्न हो सकती। हमारी दिलचस्पी चित्रकला में अधिक होती है बनिस्पत उस चित्रपट में जिस पर वह खींचा जाता है। अरविंद और भगवानदास दोनों अपने Absolute में मानवीय मूल्यों और पदार्थों को भी सम्मिलित करना चाहते हैं। यद्यपि Absolutism सबके लिये मान्य है तो भी सांसारिक व्यक्ति और पदार्थ पर विशेष बल दिया जाने लगा है और इनके प्रति अधिक स्वीकारात्मक मनोवृत्ति धारण की जाने लगी हैं। ये दार्शनिक यद्यपि Absolutist हैं तथापि भारतवर्ष में एक नये प्रकार के मानवतावाद के आगमन के लिए मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं जो मानवतावाद राधाकृष्णन के मतानुसार संसार में जन्म ले रहा है।

यदि इन दार्शनिक परिवर्तनों के साथ साम्यवादी और समाजवादी विचारधाराओं के मानववाद को भी सम्मिलित कर लिया जाय और दोनों एक दूसरे को प्रभावित करें—जैसा सैद्धांतिक और व्यवहारिक क्षेत्रों में प्रायः देखा गया है—तो इन सब आंदोलनों को भारतीय संस्कृति के आधारभूत सिद्धांतों के मानवतावादी परिवर्तन के रूप में देखना होगा। यदि इस परिवर्तन क्रिया को ठीक से चलाया जावे तो हमारी परम्परा के मूल्य ज्यों के त्यों सुरक्षित रहेंगे और फलस्वरूप भारत के निवासियों की दशा उन्नत होगी। भविष्य का दर्शन केवल दार्शनिक या आध्यात्मिक ही नहीं रहेगा, उसका सम्बन्ध केवल ईश्वर भगवत् प्राप्ति के मनोवैज्ञानिक सिद्धाँत, ईश्वर के अस्तित्व को प्रामाणित करने वाले तथा पदार्थ के साथ उसके सम्बन्ध का निर्णय करने वाले प्रमाणों तक ही सीमित नहीं रहेगा परन्तु व्यक्ति और व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्ध को भी अपनी सीमा के अन्दर समाहित करेगा। इसकी व्यापक सीमा के अन्दर अर्थ, काम, धर्म, मोक्ष सब आ जायेंगे। अतः यह व्यापकतर होगा और इसमें अधिक

विषय आयेंगे और यह प्राचीन दार्शनिकों से अधिक विषयों को अपने सीमा क्षेत्र में लायेगा। हमारे प्राचीन दार्शनिक कुछ तो परम्परा के कारण और कुछ चार वर्णों में विभाजित मूल्यों पर जोर देने के कारण बहुत कुछ सीमित हो गये थे। अब हमें जीवन तथा इसके दर्शन की एक पूर्ण योजना प्राप्त होगी जिसमें किसी महत्वपूर्ण मानवीय मूल्यों को अनुचित रूप से घटा कर या बढ़ा कर देखने की प्रवृत्ति नहीं होगी।

———

भारतीय संस्कृति और उसकी समस्यायें

चतुर्थ व्याख्यान

हमारी आधुनिक समस्यायें

हम लोगों के सामने अपनी संस्कृति के मूल से प्राप्त कुछ समस्यायें थीं ही परन्तु इनके साथ मुसलमानी संस्कृति और पश्चिमीय सम्पर्क से उत्पन्न समस्याएँ भी आ गई हैं। इस्लाम के साथ जो संघर्ष हुआ वह सच्चे अर्थ में संघर्ष था क्योंकि यह शांतिपूर्ण नहीं परन्तु हिंसात्मक था, लड़ाइयां तलवारों से लड़ी गई थीं बुद्धि से नहीं। परन्तु ईसाई धर्म के साथ जो युद्ध हुआ वह बौद्धिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक था, खून खराबी और हिंसा से भरा हुआ नहीं। अतः, ईसाई धर्म के प्रभाव के कारण हिन्दू धर्म ने अपने बहुत से दोषों का परिमार्जन किया। परन्तु इस्लाम धर्म के कारण हिन्दू धर्म ने अपने दर्वाजे बन्द कर लिए थे। वर्ण व्यवस्था को और भी दृढ़ कर दिया था और इस्लाम धर्म का विरोध करने के लिये इसने एक कृत्रिम पृथकता का रूप धारण किया था परन्तु पृथकत्व इस्लाम का मौलिक तत्व है। वह सिद्धांत और मतवाद के रूप में स्वीकार किया गया है। परन्तु हिन्दू धर्म के लिए यह कृत्रिम पलायनवादी और अयथार्थ है और संकट के समय यह काम न आया। ईसाई धर्म में भी पृथकत्व है परन्तु अपने मत के प्रचार के लिये इसने भारतवर्ष में जो पद्धति अपनाई उसके कारण हिन्दुओं के लिये एक ऐसे रूप में उपस्थित हुआ जो इस्लाम से सर्वथा पृथक था।

यहां हम लोगों को धर्म के विशिष्ठ तत्व या उसकी सार्वभौमिकता का सच्चा अर्थ समझ लेना चाहिये। धर्म सार्वभौमिक दो रूपों में हो सकता है या तो दैहिक या मनोवैज्ञानिक रूप में अथवा बौद्धिक रूप में। पहली अवस्था में धर्म परिवर्तन को स्वीकृत करने वाले सब धर्म सार्व-

भौमिक कहे जायेंगे । ईसाई धर्म इस बात का प्रचार करता है कि यदि कोई वपतिस्मा ले ले, ईसाइयों के सामाजिक नियमों का पालन करे और इस बात में विश्वास करे कि ईसामसीह ही केवल मोक्ष प्रदान कर सकते है तो वह अध्यात्मिक दृष्टि से सुरक्षित है और ईसाई धर्म में ले लिया जा सकता है । इस्लाम की शिक्षा भी यही है और मुहम्मद में वह इसी तरह आस्था की मांग करता हैं । दोनों अपने को सार्वभौमिक कहते हैं क्योंकि वे उन शर्तों के साथ प्रत्येक को अपने धर्म में प्रवेश करने का अधिकार देते हैं । इसी कारण वे अन्य धर्मों के प्रति असहिष्णु होते हैं और धर्म के नाम पर युद्ध छेड़ते हैं । परन्तु मनोवैज्ञानिक और बौद्धिक रूप से देखा जाय तो ये उन्हीं कारणों के चलते विशिष्ठ हो गए हैं सार्वभौमिक नहीं । वास्तविक सार्वभौमिकता बौद्धिक और मनोवैज्ञानिक होती है, स्थूल नहीं और इस ज्ञान पर आधारित होती है कि आध्यात्मिकता प्रत्येक व्यक्ति में वर्तमान है और वह किसी को भी उपलब्ध हो सकती है चाहे वह ईसा-मसीह में विश्वास करे या नहीं । व्यक्ति किस सम्प्रदाय का है यह केवल साम्प्रदायिक प्रश्न है, आध्यात्मिकता से उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं । यह एक सीधी सी बात है कि मनोविज्ञान के आधार पर प्रतिष्ठित सार्व-भौमिक धर्म मनोवैज्ञानिक विशिष्ठ धर्म को अपने यहां स्थान दे सकता है क्योंकि यह सार्वभौमिक धर्म के अन्दर आ सकता है । दोनों में व्याप्य और व्यापक सम्बन्ध है । परन्तु विशिष्ठ धर्म मनोवैज्ञानिक सार्वभौमिक धर्म को स्थान नहीं दे सकता क्योंकि ऐसा करने पर उसकी विशिष्टता नष्ट हो जायेगी और वह आत्मसात् कर लिया जायगा ।

यद्यपि भारतीय संस्कृति मनोवैज्ञानिक और बौद्धिक रूप से सार्व-भौमिक थी और उसी सार्वभौमिकता के कारण सामाजिक एकता की स्थापना करने में भी समर्थ हुई थी परन्तु इसी कारण जो सामाजिक एकता उपलब्ध हुई थी वह शिथिल थी । इसकी सहिष्णुता ही इसकी कमजोरी बन गई क्योंकि प्रतिद्वन्द्वी सांस्कृतिक आघातों के सामने इस तरह की कम चलाऊ एकता सम्मिलित ढंग से सामना करने में समर्थ

न हो सकी । दूसरे शब्दों में हमारी सामाजिक एकता या दृढ़ता प्रगतिशील नहीं थी परन्तु कमजोर और अगतिशील थी । मुसलमान धर्म परिवर्तन कसे तथा शासन करने आये और पहले खेवे के जितने धर्म परिवर्तनकारी थे उनमें से अधिकांश शासक या योद्धा वर्ग के सदस्य हो गये । परन्तु बाद में जैसे जैसे उनकी संख्या बढ़ी, विशेषत: अंग्रेजों के आगमन के बाद उन्हें भी उत्पादक जीविका को ग्रहण कर नागरिक जीवन बिताने के लिए बाध्य होना पड़ा । इस तरह हमारी परम्परा से प्राप्त वर्ण विभाजन के सिद्धांत में एक और भी जटिलता की वृद्धि हुई । हिन्दू समाज में सांस्कृतिक एकता तो थी परन्तु राजनैतिक नहीं । मुस्लिम समाज में सांस्कृतिक व राजनैतिक दोनों एकता थीं यद्यपि संकट के समय में इसकी दुहाई देने पर भी यह पूर्ण रूप से प्राय: उपलब्ध नहीं होती थी । हिन्दू धर्म के आध्यात्मिक और लौकिक अधिनयकत्व के पृथकत्व के सिद्धांत के विरोध में इस्लाम ने इन दोनों के एकत्व के सिद्धांत को खड़ा किया । हिन्दू युद्ध या विजय के पथ की ओर अपने वीरत्व की मान्यता की स्थापना के लिये ही अग्रसर होते थे परन्तु मुसलमानों ने ठीक इसके विपरीत धर्म परिवर्तन तथा काफिरों के उन्मूलन के सिद्धांत को सामने रखा । पुन: हिन्दुओं के ललित कला तथा साहित्य सम्बन्धी आध्यात्मिक आदर्श के विपरीत इस्लाम ने आनन्द और मनोरंजन के भौतिक आदर्श को सामने रखा । हिन्दू संस्कृति में लोक की आर्थिक उन्नति को आध्यात्मिक आदेशों के आधीन समझा जाता था परन्तु मुस्लिम संस्कृति में वह साम्प्रदायिक आदर्श के आधीन समझा जाता था ।

अंग्रेज दूसरी और यूरोपीय जातियां भारत में व्यापार के लिये आईं । तभी यहां आर्थिक दृष्टिकोण उभर कर सामने आया अथवा यों कहिए कि पूर्व के दो आदर्शों पर जो अभी तक जीवित थे ऊपर से लाद दिया गया । अपनी जाति या साम्प्रदाय से पृथक् व्यक्ति का अधिकार न तो हिन्दू धर्म में न मुस्लिम धर्म में ही स्वीकृत था अर्थात्, हिन्दू का सामाजिक

व्यवहार प्रधानतः जाति के आदर्शों के द्वारा परिचालित था और मुसलमान का सम्प्रदाय के द्वारा परन्तु पश्चिमीय वैज्ञानिक, सामाजिक और राजनैतिक विचारों के सम्पर्क में आने के कारण व्यक्ति की आत्मचेतना जागृत हुई और समाज या सम्प्रदाय से पृथक व्यक्तिगत मानवीय अधिकार के भाव भारतीयों के मस्तिष्क में प्रविष्ठ हुए। यह परिणाम वास्तव में ईसाई धर्म के कारण नहीं था जैसा कभी कभी कहा जाता है बल्कि ईसाई धर्म का प्रभाव कहना चाहें तो इसी रूप में पड़ा कि ईसाई शैक्षाणिक संस्थाओं में वैज्ञानिक रूप से विचार करने की जो प्रवृत्ति मिली। उसी कारण भारतीयों को सोचने समझने और बौद्धिक परिणामों पर पहुंचने की उत्तेजना मिली परन्तु वास्तविक परिवर्तन कुरीतियों के विरुद्ध उपस्थित किया गया। ईसाइयों के तर्क के द्वारा ही संभव हो सका और यदि तर्क ही कसौटी है तब तर्क को ही क्यों न प्रमाण माना जाय, ईसाई धर्म को क्यों। परम्परा से व्यक्ति की यह युक्ति मुस्लिम से अधिक हिन्दू समाज में दृष्टिगोचर होती है कारण कि हिन्दू समाज बौद्धिक या मनोवैज्ञानिक रूप में सार्वभौमिक और लचीला है पर मुस्लिम संस्कृति विशिष्ठ है, दृढ़ है, और इतनी कड़ी और अग्रहणशील है यद्यपि कुछ पढ़े लिखे मुसलमानों का दृष्टिकोण इतना संकीर्ण नहीं है।

सार्वभौमिक और विशिष्ट शब्दों का प्रयोग किसी धर्म की प्रशंसा या किसी की निन्दा के लिये नहीं किया जा रहा है। ये केवल तथ्य निवेदन मात्र हैं। जब हिन्दू धर्म, इस्लाम या ईसाई धर्म का विश्लेषण किया जा रहा है तो हमारा उद्देश्य इस या उस धर्म की निंदा या प्रशंसा करना नहीं। जब हमें किसी समस्या का हल निकालना है तो उन कारणों को ठीक से समझना होगा जिनके चलते इनकी उत्पत्ति हुई है। हमने तथ्यों के प्रति एक वाह्यनिष्ठ दृष्टिकोण को अपनाया है। उन दिनों जब हिन्दू मुस्लिम एकता उपलब्ध सी होती मालूम पड़ती थी तो उस समय किसी ने लिखा था कि औरंगजेब का व्यवहार हिन्दुओं के प्रति मुसलमानों से कहीं अच्छा था। एक समीक्षक ने कहा कि यदि हमें

समस्याओं का सामना करना है और उनका हल निकालना है इतिहास को झुठलाना नहीं तो यह अच्छा होता कि इतिहास की घटनाओं का सच्चा तथातथ्य वर्णन किया जाय। घटनाओं को मिथ्या करके देखना और ऐसी कल्पना करना कि समस्या थी ही नहीं सदा खतरनाक है। यदि यह आत्म प्रवंचना नहीं तो दिवास्वप्न मात्र अवश्य है। संभव है कि निकट भविष्य में सब संघटित धर्म मिट जावें, सारे धर्म बौद्धिक हो जायं और सारी संस्कृति आध्यात्मिक रंग में रंग जायं। हमारे हृदय में न हिन्दू, इस्लाम और न ईसाई धर्म के लिए गौरव के भाव रह जायं और न हम किसी के लिए क्षमा याचना करना ही आवश्यक समझें परन्तु यदि हमें आधुनिक सांस्कृतिक समस्याओं का सामना करना है तो हमें उन्हें ठीक रूप में जानना और वर्णन करना चाहिए और यह समस्याएं भारत में रहने वाले हिन्दू मुस्लिम आदि सब सांस्कृतिक समूहों के सामने उपस्थित हैं।

यदि प्रारम्भ से ही एक संस्कृति दूसरी संस्कृति का उन्मूलन कर उसके स्थान पर जम जाती तो भारत में कोई भी सांस्कृतिक समस्या उपस्थित नहीं होती परन्तु बात दूसरी ही हुई। एक संस्कृति दूसरी पर ऊपर से चिपका दी गई। तिस पर भी भारतीय संस्कृति एक तह पर रक्खी हुई दूसरी तह के रूप में ही नहीं है। कहीं कहीं एक तह दूसरी तह में प्रवेश भी कर गई है अतः सामूहिक दृष्टि से देखने पर भारतीय संस्कृति में अनेक विरोधाभास और जटिलताएं दिखलाई पड़ती हैं। उदाहरणार्थ सिक्ख धर्म ने इस्लाम का अंग होना स्वीकृत नहीं किया परन्तु साथ ही हिन्दू धर्म से भी कुछ दूर ही रहा। अतः इस मनोवृत्ति के कारण हिन्दू संस्कृति में जटिलता का समावेश हुआ। ब्रह्म–समाज की प्रवृति एक समय यही थी पर आगे चलकर इसने अपने को हिन्दू धर्म का ही एक अंग मान लिया। आधुनिक युग के शिक्षित हिन्दुओं में सुधारवादी जोश बहुत है। उसने बहुत सी प्राचीन रुढ़ियों का त्याग कर दिया है। प्रश्न यह होता है कि उसे हिन्दू कहा जाय अथवा नहीं। भारत

को प्राय: विरोधभास का देश कहा जाता है और संस्कृति के प्रत्येक क्षेत्र में जैसे सामाजिक राजनैतिक और धार्मिक तथा दार्शनिक क्षेत्र में परस्पर विरोधी तत्व पाए जाते हैं। यद्यपि भारत और पाकिस्तान का विभाजन हो जाने के पश्चात् सब अर्द्धा स्वतंत्र राज्यों को भारत का एक अंग बनने पर जोर देने के कारण राजनैतिक क्षेत्र में एकता लाने का प्रयत्न हो रहा है। जो हो एक क्षेत्र की समस्याएं दूसरे क्षेत्र को भी प्रभावित करती हैं और भारतीयों के दैनिक जीवन के लिए सबका अपना महत्व है। सांस्कृतिक निर्माण के प्रारम्भिक दिनों में जो समस्याएं उत्पन्न होती थीं उनका कारण प्राचीनता और नवीनता, वर्ण और वर्ण जाति और जाति के संघर्ष से उत्पन्न होती थी परन्तु अन्तिम दिनों में समस्या इतनी गंभीर नहीं थी कि रक्तपात की संभावना हो। हां, संभव है कि प्रारम्भ में जब आर्य और अनार्यों का सम्पर्क हुआ हो और आर्यों की विजय कामना इसकी मूल प्रेरणा हो तो रक्तपात भी हुआ हो परन्तु आगे चलकर जब ये विभिन्न समूह एक ही सामाजिक संगठन के अन्दर जातियों और उपजातियों के रूप में व्यवस्थित हो गए तो यह संघर्ष भूल गया। बाद में चलकर जितने युद्ध हुये वे युग की वीरत्व भावना के कारण। विदेशी आक्रमण का कोई सांस्कृतिक महत्व नहीं था। भारतीय संस्कृति न तो उनसे विशेष प्रभावित ही हुई न उनके परिमाणों को ही अधिक प्रभावित किया परन्तु इस्लाम के प्रवेश के पश्चात् आक्रमणों का रूप ही बदल गया। पूर्व की भारतीय संस्कृति के सामाजिक संगठन में जो कमजोरी थी वह सामने आ गई जिसका परिणामों हितकर नहीं हुआ। तब इसने कुछ सामाजिक सुधारों के द्वारा अपनी बौद्धिक और मनोवैज्ञानिक सार्वभौमिकता का प्रयोग करना चाहा परन्तु इस्लाम ने इसे अस्वीकृत कर दिया क्योंकि वह अपनी विशिष्ठता को नहीं छोड़ना चाहता था। उदाहरणार्थ यद्यपि सिक्ख धर्म ने एक समझौते का प्रयत्न किया फिर भी औरंगजेब ने इन्हें अपने अत्याचारों का शिकार बनाया। यदि इस्लाम सिक्ख व हिन्दू दोनों धर्मों की मौलिक

सचाई को स्वीकार कर लेता तो भारत से उसका अस्तित्व ही मिट जाता क्योंकि यदि विशिष्ठता को बौद्धिक रूप दिया जा और सार्वभौमिक रूप में परिणत किया जाय तो कोई भी विशिष्ठ धर्म अपने अस्तित्व की सार्थकता का प्रमाण नहीं दे सकता। क्या वैशेषिकों ने अपने तार्किक सिद्धांत के रूप में यह बात कही थी। * जो हो, इस्लाम ने अपने सम्प्रदाय को जोड़कर संख्या बढ़ाई ही परन्तु नए सुधारक दल भी उत्पन्न किये जिनके लिए भारतीय समाज को स्थान बनाना पड़ा। प्राचीन भारतीय संस्कृति एक ऐसी संस्कृति थी जिसमें बहुत सी उपसंस्कृतियां सम्मिलित थीं। इन नये आगमनों के कारण उसकी जो कुछ भी ढीली ढाली पुरानी एकता थी छिन्न भिन्न हो गई।

पश्चिमीय संस्कृति और ईसाई धर्म के सम्पर्क के कारण नए नए समूहों की संख्या नहीं बढ़ी है परन्तु एक नए बौद्धिक संगठन की प्रवृति का भी जन्म हुआ है और यह धार्मिक पक्षपात से राजनैतिक और आर्थिक रूप में स्वतंत्र है। अतः इसका दृष्टिकोण लोकोन्मुखी है। परन्तु इस लोकोन्मुखी प्रवृति का स्वागत हिन्दुओं ने जितना किया है उतना मुसलमानों ने नहीं। इसलिए यह लोकोन्मुखी प्रवृति अंशतः असफल रही और पाकिस्तान वजूद में आया। परन्तु भारत की समस्या

---

* वैशेषिक दर्शन में के ६ पदार्थों में सामान्य और विशेष की भी गणना की गई है सामान्य नित्य, एक तथा अनेक में अनुगत समवाय से सम्बद्ध रहता है। जै गो में गोत्व, मनुष्य में मनुष्यत्व। परन्तु व्यक्ति एक श्रेणी के होते हुए भी भिन्न होते हैं। अतः इन विभिन्नता के आधार पर न विशेष की कल्पना की गई। सामान्य के कारण व्यक्ति एक है परन्तु उनमें पारस्परिक विभेद भी है जिसकी सत्ता को सिद्ध करने वाला पदार्थ विशेष ही ही है। विशेषत्व नामक सामान्य नहीं माना जा सकता। विशेष अनंत है तथा स्वतोव्यावर्तक होता है। अर्थात् विशेष ही एक विशेष से दूसरे विशेष का भेदक होता है।

हल नहीं हुई क्योंकि वह विशुद्ध हिन्दू राज्य नहीं है और उसमें लाखों मुसलमान निवास करते हैं। तब प्रश्न सामने यह आता है अब भारत के विभिन्न सामाजिक समूहों को किस तरह संगठित किया जाय कि वे भारत से बाहर रहने वाले समूहों के प्रति इकाई के रूप में प्रतिक्रिया कर सके। किसी देश की राजनैतिक एकता व शक्ति उसकी स्वस्थ सामाजिक एकता पर निर्भर करती है। पुनः इन समस्याओं के साथ साथ आर्थिक आधार पर वर्गों के विभाजन के कारण एक नई समस्या आ गई हैं संसार में जिस आर्थिक युग का जन्म हो रहा था उसका बौद्धिक रूप मार्कस ने गढ़ा। मार्कस ने प्रत्येक सांस्कृतिक पहलू को ध्यान में रखते हुये इसके मूलभूत विचारों का निर्माण किया था। चाहे यह एकांगी भले ही हो और ये विचार विश्वास के हर एक कोने में हमारे वर्तमान सांस्कृतिक आन्दोलन में तीव्रता ला रहे हैं।

हम लोग अपनी समस्याओं को संक्षेप में देखकर उनका काम चलाऊ उत्तर खोज लेते हैं। हमारी संस्कृति की मुख्य विशेषताएं निम्न-लिखिल हैं। इनका मानवीय और सामाजिक महत्व भी है।

(१) प्राचीन हिन्दू धर्म की नींव प्राकृतिक, मनोवैज्ञानिक और बौद्धिक है अतः यहां आध्यात्मिकता पर अधिक बल दिया जाता है जो मनोवैज्ञानिक और आंतरिक है कुछ इने गिने मतवादों पर नहीं।

(२) चूँकि हिन्दू धर्म में धर्म के आध्यात्मिक तत्व पर जोर दिया जाता हैं जो सबके लिए एक है अतः हिन्दू धर्म वास्तविक अर्थ में सार्व-भौमिक है। इसी को दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि हिन्दू धर्म की सार्वभौमिकता दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक है स्थूल नहीं। बुद्ध धर्म में यह आध्यात्मिकता बहुत ही स्पष्ट रूप से वर्तमान थी क्योंकि जिन जिन देशों में कुछ धर्म का प्रचार हुआ इनके सामाजिक और राजनैतिक रुपों से इसका बहुत ही कम सम्बन्ध रहा। हिन्दू धर्म का बुद्ध धर्म की तरह बाहर तो प्रचार अधिक नहीं हुआ परन्तु अपने क्षेत्र में प्रवेश करने वाले विभिन्न समूहों के साथ उसका व्यवहार इसी तरह का रहा।

(३) हिन्दू धर्म में गंभीरता और गहराई की पूछ होती है, केवल चौड़ाई और उथलेपन का परित्याग किया जाता है। गहराई के कारण संस्कृति में आंतरिकता आ जाती है और जीवन की सार्थकता प्राप्त होती है जिसके अभाव में जीवन एक विकसित और उद्देश्यहीन क्रिया मात्र रह जाता है।

(४) भारतीय संस्कृति का मूलाधार सार्वभौमिकता और बौद्धिकता होने के कारण बौद्ध धर्म संसार के सामने इस बात की घोषणा कर सका कि धर्म स्वाभाविक है कृत्रिम नहीं। जीवन के नियम प्रकृति के नियम से भिन्न नहीं और यही जीवन का आदर्श भी होना चाहिये। इस दृष्टिकोण से लाभ यह है कि आध्यात्म और नैतिकता को हम अनेक ऐतिहासिक उलझनों, मतवादों तथा अन्य अबौद्धिक तत्वों से अलग कर देख सकते हैं। अतः इसे स्वाभाविक बना सकते हैं परन्तु व्यवहार में हिन्दू धर्म और बुद्ध धर्म दोनों ने इस नियम को आध्यात्मिकता के क्षेत्र तक ही सीमित रखा और प्रचलित वाह्याचारों को आंख मूंद कर स्वीकार कर लिया। खैर जो कुछ हो, इससे उनमें सहिष्णुता ही आई क्योंकि उनके मतानुसार आध्यात्मिक नियम ही सार्वभौमिक हो सकते हैं और नैतिक नियम तो सापेक्षिक ही होंगे और भिन्न भिन्न सामाजिक समूहों में उनका रूप भी भिन्न भिन्न होगा।

(५ हिन्दू धर्म में आध्यात्मिक मूल्यों के सामने और सब मूल्य गौण हैं अर्थ, काम और धर्म मोक्ष के साधन मात्र हैं। दार्शनिकों का ध्यान मोक्ष पर ही व्यवस्थित रूप से विचार करने की ओर गया था, शेष तीनों की ओर नहीं। यह कहना अधिक ठीक होगा कि मोक्ष सम्बन्धी विचार की तरह अन्य मूल्य-सम्बन्धी विचार इतने व्यवस्थित रूप से विकसित नहीं किये गये हैं। प्राचीन दार्शनिकों ने प्रथम की ओर बहुत ही कम ध्यान दिया है। इसके अपवाद स्वरूप मीमांसा या जैमिनी के धर्म सूत्र का ही नाम लिया जा सकता है। परन्तु सामाजिक सदाचार को

दार्शनिक व्यवस्थित रूप देकर ही यह ठहर गया और धर्म शास्त्र तो सदाचार की सतह तक पहुँचकर ही रह गया और दर्शन का भी रूप न ले सका। दूसरे सम्प्रदायों ने तो नैतिक सदाचारों को स्वीकृत करके ही संतोष कर लिया और मूल प्रेरणा के रूप में काम करने वाले दार्शनिक सिद्धान्तों को विकसित करने तक की परवाह न की। इस प्रवृत्ति के कारण अधिक दृढ़ मानवीय मूल्यों को आध्यात्मिक मूल्यों से पृथक् कर देखने वाले दृष्टिकोण को प्रोत्साहन मिला।

(६) चूंकि हिन्दू धर्म में सामाजिक तथा अन्य उलझनें अनिवार्य नहीं परन्तु आकस्मिक मानी जाती हैं अतः इनसे हिन्दू धर्म की आध्यात्मिकता पृथक् ही रही। परिणाम यह हुआ कि हिन्दू धर्म सचेतन रूप में सहिष्णु बन गया और यह सहिष्णुता आज सर्वविदित है। हिन्दू धर्म दूसरे धर्मों के मतवादों को एक क्षंतव्य वाह्याचार के रूप में देखता है जब तक वे उसके साथ हस्ताक्षेप न करें।

(७) बुद्ध धर्म ने करुणा और आध्यात्मिक रूप से पतित व्यक्तियों के उत्थान का प्रचार किया है। यही हिन्दू संस्कृति के प्रति उसका अनुदान है।

(८) बुद्ध धर्म और जैन धर्म ने हिन्दू दृष्टिकोण में दो बातें जोड़ीं कि जीवन का अधिकार प्रत्येक जीव को है, केवल मानव को ही नहीं परन्तु जीवधारी प्रत्येक व्यक्ति को। अहिंसा प्रत्येक भारतीय धर्म में विद्यमान है। परन्तु जैन धर्म ने इस पर बहुत ही जोर डाला। इस सिद्धान्त के सामाजिक और मानवीय महत्व को ध्यान में रखना आवश्यक है। जातीय नीति के अनुसार दूसरे कबीलों के सदस्यों को जीने का अधिकार नहीं सिवाय संधि या परम्परा के। साम्प्रदायिक धर्म के अनुसार दूसरे धर्मों के सदस्यों को इसलिए जीने का हक नहीं है क्योंकि वे मनुष्य हैं। यदि वे जीते हैं तो केवल कृपा पर; प्राकृतिक अधिकार के रूप में नहीं। कुछ गोरी जातियों ने भी काली जातियों के प्रति

ऐसा ही व्यवहार किया। उदाहरणार्थ स्पेन निवासियों ने दक्षिण अमेरिका के निवासियों के साथ। हिटलर के समय में जर्मनी में एक हब्शी को चिड़ियाघर में रखा गया। यह इसी मनोवृत्ति का उदाहरण है। परन्तु भारत के प्रारम्भिक आर्यों ने यहां के आदिम निवासियों के साथ इस तरह का व्यवहार नहीं किया। उन्हें पृथक् समूहों के रूप में जाति और उपजातियों की तरह जीवित रहने का अधिकार दिया। जैन धर्म ने इस अहिंसा के सिद्धान्त को अधिक व्यापक बनाया और प्रत्येक जीवित प्राणी को जीते रहने का अधिकार दिया। इसका प्रभाव यह हुआ कि एक शाकाहारी व्यक्ति का आदर मांसाहारी व्यक्ति से अधिक होता है और हिन्दुओं के मस्तिष्क में रक्तपात के प्रति एक विरक्ति की भावना आ गई। प्रत्येक जीवित प्राणी विशेषतः मनुष्य के जीवित रहने वाले अधिकार की भावना हिन्दू मस्तिष्क की स्वाभाविक प्रवृत्ति बन गई।

(९) बहुत से अन्य धर्मों की तरह हिन्दू धर्म सब मनुष्यों की आध्यात्मिक एकता स्वीकार करता है। सब मनुष्य सामाजिक और आर्थिक रूप में भी बराबर हैं यह बात अधिक स्पष्ट होकर नहीं सामने आई है पर यह उसके बौद्धिक और आध्यात्मवाद के अनुरूप ही है।

(१०) शांति, शृंगार और करुणा इन तीनों को हिन्दू संस्कृति हमारे सामने सर्वोच्च आदर्श के रूप में रखती है। हमें याद रखना चाहिये कि वह शांति शून्यता की शांति नहीं और न शृंगार शारीरिक प्रेम है। भरत के मतानुसार सब भावों का मूल उत्पादक शांति है। भोज के अनुसार सब भावों का मूल शृंगार है और वह आत्मस्वरूप है। भवभूति का कथन है कि सब भावों का मूल करुणा है। इन सब सिद्धान्तों में विद्वानों ने बौद्ध धर्म के आदर्शों का प्रभाव देखा है। ये वे आदर्श हैं जिन्हें मनुष्य को मन से प्राप्त करना चाहिये। ये प्रत्येक क्षेत्र में मनुष्य की क्रियाओं को प्रभावित करते हैं।

(११) हिन्दू संस्कृति में एक विचित्र पृथकत्व की भावना उत्पन्न हो गई जो आगे चल कर और भी दृढ़ हो गई। आत्म-तुष्टि और स्वयं सम्पूर्णता के भाव जागृत हुए। ऐसी धारणा हो गई कि बाहर से कुछ लेकर आत्मसात् करने की चीज ही नहीं है और इस तरह से सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्रों में एक प्रकार की संकीर्णता आ गई। एक समय था कि हिन्दू धर्म समुद्रों की सीमा को लांघ कर फैला हुआ था परन्तु बाद में समुद्रों की सीमा को लांघना अधार्मिक समझा जाने लगा। इसी तरह कभी नए लोगों को अपने धर्म में स्थान देना स्वीकृत था परन्तु बाद में धर्म परिवर्तन का दरवाजा बन्द कर दिया गया। इसी स्वयंपूर्णता के भाव के कारण यह संभव हुआ कि यद्यपि भारत ने चीन को बौद्ध जीवन की बातें तो सिखलाईं परन्तु कन्फूसियस के मानवतावादी दृष्टि-कोण को अपने यहां स्थान नहीं दिया।

(१२) धर्म के आध्यात्मिक सिद्धांतों को सामाजिक और राजनैतिक रूपों से पृथक् कर के देखा गया था। इसका परिणाम यह हुआ कि राजनैतिक सत्ता का अधिकारी धार्मिक सत्ता के अधिकारी से पृथक् रहा। इतना ही नहीं, प्रत्येक सामाजिक गुट को अपनी विशेष रूप रेखा अपनाने की भी स्वतन्त्रता दी गई। उदाहरणार्थ पृथक् जातियों में विवाह की प्रथा पृथक् पृथक् है और सुदूर पार्वतीय प्रदेशों में तो राक्षस विवाह की प्रथा आज भी प्रचलित है। तिस पर भी वे सब हिन्दू ही कहलाते हैं। मतलब यह है कि यहां सामाजिक वाह्याचारों में कोई एक-रूपता नहीं। अतः, सामाजिक एकत्व की भावना जितनी दृढ़ मुस्लिम समाज में है उतनी हिन्दुओं में नहीं। मुस्लिम संस्कृति का रुख इसके सर्वथा विपरीत है। मुस्लिम संस्कृति में आध्यात्मिक और लौकिक दोनों सत्ताओं के अधिकारी ही एक नहीं परन्तु वहां मुस्लिम धर्म में प्रवेश करने वालों को सामाजिक जीवन के वाह्याचरण में भी स्वतन्त्रता नहीं।

(१३) कहीं भी सांस्कृतिक एकता राजनैतिक एकता की तरह नहीं है। हिन्दू विचार-धारा में दो साम्राज्यों के युद्ध को दो सम्प्रदायों के युद्ध

के रूप में कभी नहीं स्वीकार किया गया है। अतः हिन्दू राजनैतिक एकता के लिए सांस्कृतिक एकता को आवश्यक नहीं समझता परन्तु मुसलमानों की विचारधारा ठीक इसके विपरीत है।

(१४) अपने धर्म के आदेशानुसार एक मुसलमान यथाशक्ति गैर-मुस्लिम राजा की सेवा नहीं करेगा परन्तु हिन्दू एक अहिन्दू राजा की प्रजा होने में कोई विशेष आपत्ति नहीं करता। इस मनोवृत्ति के कारण भी मुसलमानों में एकत्व की भावना दृढ़ हुई।

(१५) हिन्दू संस्कृति वास्तव में बहुत ही लचीली है इसकी धार्मिक या मनोवैज्ञानिक दृष्टि में कोई अस्पष्टता नहीं है। अतः यह अपने अस्तित्व की रक्षा करती हुई भी नित्य नये नये रूप धारण कर सकती है कितने ही सामाजिक सुधार और पूजा पाठ की नई पद्धतियां इसमें लाई जा सकती हैं। तिस पर भी वे हिन्दू ही रहेंगी। इस दृष्टि से यह निरन्तर प्रगतिशील है। एक दृष्टि में यह हिन्दू संस्कृति की कमजोरी भी है क्योंकि मौलिक रूपों की दृढ़ता से रक्षा करने वाले इस्लाम के संघर्ष में आयीं तो इसमें उस शक्ति का अभाव रहा जो बाहरी रूप की दृढ़ता से ही आ सकती है। परन्तु जब हम देखते हैं कि संसार में बुद्धिवादिता का प्रचार हो रहा है और नित्य प्रति नए नए सामाजिक और राजनैतिक रूप सामने आ रहे हैं तब हम समझते हैं कि उचित रूप से इस प्रवृत्ति के उपयोग के द्वारा यह कमजोरी भी शक्ति के रूप में परिणत की जा सकती है।

(१६) जहां तक इसके सामाजिक पहलू का प्रश्न है हिन्दू धर्म की इस लचीली अस्पष्टता ने प्रतिद्वन्द्वी संस्कृतियों के सङ्घर्ष में आने पर इसे एक दृढ़ सिद्धांत और कार्यक्रम को अपनाने से रोका। यदि एक सामाजिक गुट नई जाति या उपजाति के रूप में रहना चाहता था तो हिन्दू धर्म में उसके लिए सदा स्थान था। परन्तु जब वे ऐसा करना स्वीकार नहीं करते थे तो हिन्दू धर्म समझ नहीं पाता था कि क्या किया जाय

क्योंकि इसके पास कोई ऐसी दृढ़ व ठोस बात नहीं थी कि जिसके प्रति इन लोगों को आत्म समर्पित करने के लिए बाध्य कर सके। यह नए समूह को सहन कर सकता था पर जब यह नया समूह असहिष्णु हो उठता था तो हिन्दू समाज इतना ही कर सकता था कि उसे सहिष्णु बनाने के लिए प्रयत्न करे। परन्तु हिन्दू धर्म में ऐसी कोई चीज नहीं थी कि यह भविष्य में उसके साथ हस्ताक्षेप कर सके। अतः हिन्दू धर्म का यह स्वभाव था कि वह अपने रक्षणात्मक युद्ध करने के लिए ही बनाया गया था। कोई संस्कृति जिसका निर्माण अपनी रक्षा के लिए ही हुआ है जीवित नहीं रह सकती। जीवन गतिशील है, वह आगे बढ़ता है या पीछे हटता है, कभी भी अगतिशील नहीं।

(१७) भारतवर्ष में सबसे महत्वपूर्ण दूसरा सामाजिक गिरोह मुसलमानों का है और ये ऐसे सांस्कृतिक रूप के प्रतिनिधि हैं जिनका हिन्दू सम्प्रदाय से मौलिक विरोध है। इस्लाम को जातीय या उपजातीय अन्तर मान्य नहीं परन्तु इस मनोभाव में भी दूसरों तथा दूसरी संस्कृतियों के प्रति असहिष्णुता के भाव मौजूद हैं। वर्ण विभेद बुरा अवश्य है पर असहिष्णुता उससे भी बुरी है। हिन्दू धर्म आध्यात्मिक और लौकिक सत्ताधिकारों को पृथक् पृथक् रखता है परन्तु इस्लाम इन दोनों में एकता की स्थापना करता है। एक मुसलमान मुस्लिम राज्य में रहना पसंद करेगा अमुस्लिम राज्य में नहीं। इस्लाम अपने आध्यात्मिक सत्ताधारी को लौकिक सत्ताधारी बना कर सांसारिक विलासिता का अधिकार दे सकता है। ललित कलाओं को वह कुफ्र तथा अनाध्यात्मिक समझता है परन्तु हिन्दू धर्म की मनोवृत्ति ठीक इसके विपरीत है। इस्लाम की उत्पत्ति गिरोह के रूप में हुई है, हिन्दू धर्म की उत्पत्ति स्वाभाविक एवं मनोवैज्ञानिक है। अतः इसमें उन सब सामाजिक, साम्प्रदायिक व भौतिक स्वार्थों पर जोर नहीं दिया गया है जिनका इस्लाम में बोलबाला है। दूसरी बात यह है कि इस्लाम धर्म धर्म-परिवर्तन के द्वारा

अपने अनुयायियों की संख्या बढ़ाकर प्रसन्नता का अनुभव करता है परन्तु हिन्दू धर्म अपनी श्रेष्ठता का दावा करता हुआ नए परिवर्तन-कारियों को अपने अंदर लेना नहीं चाहता यद्यपि अपने धर्म को छोड़ कर दूसरे धर्म को अपनाने से उसकी संख्या में जो कमी होती है उसे बुरा अवश्य लगता है। आज की हिन्दू संस्कृति में विरोधी तथ्यों और मनोवृत्तियों का समावेश है। यदि विवेक से काम लेकर इसमें उचित समन्वय की स्थापना नहीं की गई तो आगे चल कर यह सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन के लिए खतरा साबित हो सकता है।

संस्कृति प्रधानतः मानसिक स्थिति का प्रतिबिंब होती है। परन्तु उसे आन्तरिक या वाह्य जो भी मानें इसका प्रभाव व्यक्ति व समाज दोनों पर पड़ता है और सब क्षेत्रों में उनके कल्याण पर इसका असर होता है। यह अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्ति की विचार प्रक्रिया और व्यापार के रूप का निर्णय करती है और व्यक्तियों के द्वारा समाज के रीति रिवाजों का भी। ऐसे मनुष्य हैं जो यह कहते हैं कि हिन्दू संस्कृति आध्यात्मिक है। आध्यात्मिकता सामाजिक बलाबल से प्रभावित नहीं होती और वे जो भारत के पतन का उत्तरदायित्व एकांगी आध्यात्मिकता को देते हैं वे समस्या को गलत ढंग से देखते हैं। यह बात मानी जा सकती है कि आदमी शरीर से कमजोर होने पर भी आध्यात्मिक रूप में महा बलवान हो सकता है। इस बात से किसी को विवाद नहीं। परन्तु आध्यात्मिकता शून्य में नहीं ठहर सकती। इसके लिए शरीर चाहिये और इस शरीर को समाज ही धारण कर सकता है। समाज को अपने अस्तित्व की रक्षा करनी पड़ती है। यदि इसे जीवित रहना है तो उसे दूसरे समाजों के द्वारा किये गए किसी प्रकार के आक्रमण से अपनी रक्षा करनी पड़ती है। इसके लिए मजबूत होने की आवश्यकता है। परन्तु समाज में तब तक मजबूती नहीं आ सकती जब तक उसके व्यक्ति स्वस्थ व मजबूत न हों। अतः आध्यात्मिक रूप से महान होने के लिए समाज और व्यक्ति

दोनों के शरीर को स्वस्थ व मजबूत होना पड़ेगा। पुनः समाज को आंतरिक रूप से मजबूत होना चाहिये। मतलब यह है कि समाज का सङ्गठन स्वस्थ व संतुलित हो, ऐसा हो कि वह संगठित रूप में एक लक्ष्य की ओर प्रेरित हो सके और इसके भिन्न भिन्न अङ्ग परस्पर विरोधी दिशाओं की ओर उसे न खींचे। समाज को वाह्य दृष्टि से भी अर्थात् दूसरे समाजों के साथ सम्बन्ध में भी मजबूत होना चाहिये। जिस प्रकार व्यक्ति के शरीर के संगठन को स्वस्थ होने की आवश्यकता है और व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध को स्वस्थ होने की आवश्यकता है उसी तरह समाज के संगठन तथा दूसरे समाजों के साथ इसके पारस्परिक सम्बन्ध को भी स्वस्थ होना चाहिये। कोई व्यक्ति या समाज दूसरों की कृपा पर बहुत दिन तक जीवित नहीं रह सकता। इसकी स्थिति सदा डाँवाडोल रहेगी और उसका कुछ भी मूल्य नहीं होगा। यह सीधा साधा तर्क है। अतः, अपने प्राचीन गौरव के मोह के कारण समस्याओं को गलत ढंग से नहीं देखना चाहिये। यद्यपि यह सम्भव है कि बाहर के स्वार्थी लोग अपना मतलब साधने के लिए तथा अपने देश के लोग समस्या के वास्तविक रूप को न देख सकने के कारण इस तरह के भ्रामक दृष्टिकोण को बढ़ावा दे सकते हैं। संस्कृति केवल कल्पना की चीज नहीं है परन्तु जीवन की चीज है जो भौतिक जगत में विचार करती है, अनुभव करती है और कार्य करती है। सांस्कृतिक आदर्श, हमारे विचार, इच्छाओं और क्रियाओं को प्रभावित करते हैं।

कुछ लोगों का कहना है कि हमारी विकसित आध्यात्मिक संस्कृति हमारी विशिष्ट राजनीतिक, सामाजिक और भौगोलिक परिस्थितियों के कारण उत्पन्न हुई है और Dr. Schwertzer की तरह अन्य लोग यह कह सकते हैं कि ऐसी व्याख्या यूनानी संदेहवाद तथा भौतिकवाद के लिए ठीक हो सकती है पर भारतीय विचार के लिए नहीं। हमारे विचार में Dr. Schwertzer का मत ठीक है कारण कि भारतीय

दर्शन अपने चरम शिखर पर उस समय पहुँचा जिस समय आर्यों की शक्ति चरमोत्कर्ष पर थी। दूसरे देशों में दार्शनिक विचार भिन्न राजनैतिक और भौगोलिक परिस्थितियों में विकसित हुए। हमारी संस्कृति को उत्पन्न करने वाली जो भी शक्तियाँ रही हों पर एक बार निश्चित रूप धारण कर लेने के बाद इसने हमारे विचार और क्रियाओं को प्रभावित करना प्रारम्भ कर दिया। यह कहा जाता है कि अशोक के उत्तराधिकारियों में से एक ने यह कहा था कि धर्म शत्रु को पराजित कर देगा। जब शत्रु उसके साम्राज्य पर आक्रमण कर रहा था उसने धर्म के अमूर्त सिद्धांतों को अलग कर दिया था और आशा करता था यह अमूर्तता समूर्त शत्रु का सामना करेगी। परन्तु धर्म कभी भी स्वयं युद्ध नहीं कर सकता, भौतिक शरीर के द्वारा ही कर सकता है। यदि इसकी भौतिक रूपरेखा सबल नहीं है तो यह पराजित हो जायगा। आप कह सकते हैं कि धर्म की कभी हार नहीं होती। हां, यदि इसके अमूर्त सिद्धांतों को देखा जाय तो उसकी हार कभी नहीं होती और संसार उसकी हार कभी चाहता भी नहीं परन्तु जब इसकी समूर्तता स्वस्थ और मजबूत नहीं होती, इसका समूर्त रूप हार जाता है। धर्म को एक मजबूत मूर्ति धारण करनी चाहिये। धर्म से पृथ्वी पर जीवित रहने की आशा नहीं की जा सकती यदि वह एक मजबूत रूप न धारण कर सके।

मैं दार्शनिक के रूप में बोल रहा हूँ, व्यवहारदक्ष राजनीतिज्ञ के रूप में नहीं परन्तु एक ऐसे दार्शनिक के रूप में जो जीवन, दर्शन तथा विचारों के लिए क्रिया के महत्व को भूला नहीं है। भारतीय संस्कृति के सामने आज अनेक समस्याएँ उपस्थित हैं और हम जब उन समस्याओं को सुलझाने चलते हैं तो पाते हैं कि वे जटिल हैं।

(१) प्रथमतः तो वैसी समस्याएँ हैं जो हिन्दू धर्म की विशिष्ट सार्वभौमिकता के कारण उत्पन्न हुई हैं। हमने कई बार कहा है कि यह संस्कृति बौद्धिक और मनोवैज्ञानिक है सामाजिक और भौतिक नहीं।

अनेक समूहों को एकता के सूत्र में पिरोने के लिए यही सार्वभौमिकता काम में आ सकती है परन्तु इसमें सामाजिक और भौतिक दृष्टि से पूरी दृढ़ता नहीं है। यही कारण है कि हमारी सामाजिक एकता कोई अधिक ठोस और प्रभावोत्पादक अर्थात् गतिशील नहीं हो सकी।

इस पर विवाद नहीं है कि बौद्धिक और मनोवैज्ञानिक सार्वभौमिकता स्वयं अच्छी व महान् नहीं है। पहले उल्लेख हो चुका है कि सच्ची सार्वभौमिकता बौद्धिक और मनोवैज्ञानिक होती है। सार्वभौमिकता का अर्थ ही सामान्यीकरण और बौद्धीकरण होता है। परन्तु प्रश्न यह है कि जिन सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों में हम रह रहे हैं उनमें इसकी उपयोगिता कहाँ तक है ? एकता के आधार के रूप में अपनाया जा कर विशुद्ध सार्वभौमिक आध्यात्मिक सिद्धांत आध्यात्मिक एकता ही उत्पन्न कर सकता है और जो कुछ सामाजिक एकता यह उत्पन्न करेगा वह शिथिल, उदासीन व कमजोर होगी। उदाहरणार्थ बौद्ध धर्म प्रायः सम्पूर्ण एशिया पर छा गया था और कहा जा सकता है कि बहुत दिनों तक इसने अनेक देशों में आध्यात्मिक एकता बनाये रक्खी परन्तु इसने राजनीतिक एकता उत्पन्न करने का प्रयत्न नहीं किया और सामाजिक उत्पन्न करने में तो उसे उतनी भी सफलता नहीं मिली जितनी ईसाई धर्म को मिली थी। ईसाई राष्ट्र आपस में कितने ही लड़ते रहे परन्तु जब कोई गैर ईसाई राष्ट्र ईसाई राष्ट्र पर आक्रमण करता है तो उन्हें इसकी चिन्ता हो जाती है। यही मनोवृत्ति हम मुस्लिम राष्ट्रों में भी पाते हैं। परन्तु बौद्ध धर्मावलम्बी राष्ट्रों में ऐसी मनोवृत्ति हुई हो यह बात अभी तक नहीं सुनी गई। हिन्दू धर्म ने आध्यात्म को सामाजिकता और राजनीति से पृथक् रखने वाले सिद्धांत को अपनाया पर बुद्ध धर्म ने इसे एक सीमा पर पहुँचा दिया। ईसाई धर्म के विपरीत बुद्ध धर्म जहाँ भी गया वहां सामाजिक सदाचार के नियमों को साथ नहीं लेता गया। राजनैतिक नियमों की तो कुछ बात ही नहीं। तिब्बत की धार्मिक राज्यसत्ता एक असाधारण घटना है और बुद्ध धर्म से इसका कोई सम्बन्ध नहीं।

जैसा बहुत लोगों का कहना है कि आध्यात्मिक एकता केवल दार्शनिकों और सन्तों के द्वारा उपलब्ध की जा सकती है। सामाजिक एकता के लिये जनसाधारण को कुछ अधिक ठोस चीज़ की जरूरत पड़ती है। हिन्दुओं में बहुत से सामाजिक और धार्मिक रीतिरिवाज साधारण रूप से प्रचलित हैं। परन्तु इतिहास से यह प्रमाणित होता है कि एक प्रतिद्वन्द्वी के सामने ये पूरे कारगर सावित नहीं होते। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि समाज में समूहों को पृथक् करने वाले जो भेद हैं उन्हें एक आधार पर लाने के लिये उनकी दूरी कम करनी चाहिये। यदि सेना को हम सक्रिय समूह संगठन के रूप में देखें तो झंडा, वर्दी आदि के महत्व को एकता के प्रतीक के रूप में ठीक से समझ सकते हैं। कहने का अर्थ यह है कि सामाजिक एकता का सिद्धांत तभी अधिक काम का हो सकता है जब वह सामाजिक रूप में निश्चित और दृढ़ हो।

उदाहरण के लिये विवाह सम्बन्धी रीतिरिवाजों ने हिन्दू समाज में एकता पैदा नहीं की क्योंकि प्रत्येक जाति में भिन्न भिन्न रिवाज हैं। उसी तरह उनमें वस्त्र व भोजन की भी एकता न थी। मैं अन्तर्जातीय विवाह और खानपान की बात नहीं कहता। मैं समारोहों के रूप की बात कह रहा हूँ। यहां पर वे धर्म जो किसी एक खास सामाजिक नियम के साथ अपना तादात्म्य कर लेते हैं वे नफे में रहते हैं। हम इसे सामाजिक परिनिष्ठा कह सकते हैं जो दृढ़ एकता उत्पन्न करती है। धर्म के नाम पर इस्लाम ने इस सामाजिक परिनिष्ठा को प्राप्त किया था। चूंकि यह बौद्धिक और वैज्ञानिक आधारों पर निर्मित नहीं था इसलिये हम इसे सम्प्रदायवाद कहते हैं और इस सामाजिक परिनिष्ठा को प्राप्त करने में इस्लाम को सफलता इसलिये मिली थी कि इसने अपने सम्प्रदाय में रंग और जाति को नहीं हटाया परन्तु इसने आध्यात्मिक और भौतिक दोनों सत्ताओं की एकता स्थापित करने में तथा सब विरोधी

तत्वों को दूर करने में सफलता पाई। इस तरह हम देखते हैं कि इस्लाम के समाज में सांस्कृतिक जीवन के जितने पहलू हैं उन सब को इसने परिनिष्ठित बना दिया जो आज के राजनीतिक अधिनायकवाद की मुख्य विशेषता है। बुद्ध धर्म ने इसके ठीक विपरीत आदर्श उपस्थित किया। इसने कभी भी जान बूझ कर ऐसी परिनिष्ठा उत्पन्न करने का प्रयत्न नहीं किया। अतः हम देखते हैं कि बुद्ध धर्म और इस्लाम धर्म इन दोनों की सांस्कृतिक पद्धति सर्वथा भिन्न है।

तब क्या हमें इस तरह की परिनिष्ठा का निर्माण धार्मिक सिद्धांतों पर करना चाहिये। प्रथमतः तो अब इसके लिये बहुत विलम्ब हो गया। द्वितीयतः हम आगे ही जा सकते हैं पीछे नहीं लौट सकते। हम वैदिक युग की ओर लौट नहीं सकते और तत्कालीन विचारधारा को बदल नहीं सकते। वे विचार आज से तीन हजार वर्ष पहले बन चुके थे और उस युग में हमारे लिये लौटना और एक दूसरे रूप में उस युग में फिर से जीना असंभव है ताकि हम एक भिन्न प्रकार की सामाजिक व्यवस्था कायम कर सकें। तृतीयतः हमारी उपलब्धियां और हमारे अभाव उन विचारों के कारण हैं जो निश्चय ही अपनी परिस्थितियों के लिए सर्वोत्तम थे। हमें अपनी उपलब्धियों की रक्षा करनी है। और अधिक असफलताएं न हों इसके लिए तैयारी करनी है। हमारी आध्यात्मिक संस्कृति की एकता के सिद्धान्त बौद्धिक और मनोवैज्ञानिक थे। तब क्यों नहीं हम लोग अपने समाज को अधिकतर संगठित करने के लिये बौद्धिक और मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का अनुसरण करें। यह विज्ञान का युग है। अतः हमारी सामाजिक परिनिष्ठा भी विज्ञान-सम्मत सामाजिक सिद्धान्तों पर होनी चाहिये। भारतवर्ष के नागरिक संसार के सब धर्मों के अवलम्बियों में से हैं। अतः हमारे लिए सबों पर कुछ लोगों के साम्प्रदायिक सिद्धांतों को थोपना अच्छा नहीं होगा। हम जो भी सिद्धांत बनाएं उनकी नींव मानव स्वभाव और सामाजिक स्वभाव पर होनी चाहिये। आज भारतवर्ष में लौकिक राज्य है। इसके अन्दर भी यही

बौद्धिक और वैज्ञानिक प्रेरणा काम कर रही है। अतः हमारा प्रथम प्रयत्न यह होना चाहिए कि सामाजिक संगठन के लिये हम कोई बौद्धिक और मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त खोज निकालें। दूसरा प्रयत्न यह होना चाहिये कि इस तरह का खोजा हुआ सिद्धांत सामाजिक व्यक्ति को असामाजिक न बना दे क्योंकि ऐसा होने से तो हमारे सामाजिक संगठन के मूल पर ही कुठाराघात हो जायगा। हम चाहते हैं कि हमारा सामाजिक संगठन स्वस्थ और सबल हो और इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए यह बौद्धिक और मनोवैज्ञानिक हो। हम व्यक्ति को असामाजिक नहीं बनाना चाहते। जब एक व्यक्ति के सूत्र एक विशिष्ठ समाज से हट जाते हैं तो दूसरे समाज से लेकर उसे देना होगा क्योंकि मनुष्य एक सामाजिक जीव है।

(२) सामाजिक और राजनैतिक उलझनों से हमारी आध्यात्मिकता सदा दूर रही है अतः हमारी सहिष्णुता विश्व विख्यात है परन्तु इसी सहिष्णुता ने हमारे लिए नई समस्याएं पैदा की हैं। हम सहिष्णुता के महत्व के बारे में यह भूल जाते हैं कि किन किन कारणों से यह सहिष्णुता उत्पन्न हुई और उन्होंने किन किन समस्याओं को जन्म दिया। हम सहिष्णुता के सिद्धांतों के प्रति अत्यधिक भावुक हैं। अतः इसकी समस्याओं के प्रति मनोवैज्ञानिक रूप से अंधे हो गये हैं। निःसन्देह सहिष्णुता एक महान गुण है परन्तु परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ इसके महत्व में भी परिवर्तन होता रहता है। उदाहरणार्थ, यदि दो सहिष्णु धर्म या संस्कृतियां सम्पर्क में आएं तो परिणाम बहुत ही अच्छा होगा और वे दोनों लाभान्वित होंगी परन्तु एक सहिष्णु हो और दूसरी असहिष्णु तो क्या परिणाम होगा ? पाल धलके का कहना है कि सामी धर्म वाले स्वभाव से ही असहिष्णु होते हैं यद्यपि इस असहिष्णुता का कारण उन्होंने नहीं बतलाया है। इस्लाम सदा असहिष्णु रहा है चाहे इसका कारण सांस्कृतिक या आर्थिक पिछड़ापन ही क्यों न हो और यदि हम

देश विभाजन के बाद जो घटनाएं घटी हैं उनके आलोक में देखें तो पता चलेगा कि असहिष्णुता उनके सिद्धान्तों का एक अंग है। साम्प्रदायिक झगड़ों का नेतृत्व शिक्षित मुसलमान करते थे और राष्ट्रवादी मुसलमान जिनके विचार प्रगतिशील थे वे अपने सम्प्रदाय के सदस्यों के द्वारा पीड़ित किये जाते थे।*झगड़ों के कारणों की खोज से पता चला है कि वे आर्थिक कारणों से नहीं हुए थे। इन सब बातों के महत्व को घटाकर नहीं देखना चाहिए यद्यपि मुसलमान व अन्य जातियों के लोगों का यह कर्तव्य है कि समस्या के मूल कारणों का पता लगा कर मिलजुल कर कुछ समाधान ढूंढ़ निकालें।

हिन्दू धर्म ने अनेक सामाजिक समूहों को अपने क्षेत्र में स्थान दिया और सामाजिक जीवन के अपने रीतिरिवाजों को पालन करने का अधिकार दिया तथा बौद्धिक और सांस्कृतिक रूप में समझाया बुझाया। यह प्रसन्नता के साथ मुसलमानों के साथ भी यही करता और ब्राह्मण जाति की धार्मिक अधीनता मानने के लिए बाध्य नहीं करता जैसा कि इसने बौद्ध और जैन धर्मों के साथ किया था। वे–बौद्ध और जैन वेदों को स्वीकार नहीं करते थे। यह कहना युक्ति संगत नहीं मालूम पड़ता कि यदि मुसलमान भारतीय समाज में बौद्धों और जैनियों की तरह रहना स्वीकार कर लेते तो उन्हें एक नीची सामाजिक स्थिति प्राप्त होती। कोई बौद्ध या जैनी सामाजिक निम्नतर स्थिति को स्वीकार नहीं करता। केवल इस कारण कि वह जाति भेद में विश्वास नहीं करता। आज के ईसाई भी ऐसा नहीं करते। प्रत्येक अपने को दूसरों

---

*महात्मा गांधी की हत्या एक हिन्दू के हाथों हुई इसलिए नहीं कि वे सहिष्णुता का प्रचार करते थे परन्तु इसलिए कि लोगों ने भ्रम से यह समझ लिया था कि उनसे मुसलमानों को प्रोत्साहन मिलता है तथा गैर मुस्लिमों में आत्मरक्षा के भावों को जगने में बाधा पड़ती है।

से श्रेष्ठ समझते हैं और जब तक यह मनोवृत्ति शारीरिक संघर्ष उत्पन्न नहीं करती तब तक उन्हें ऐसा समझने देने में कोई हानि नहीं। हां, यह बात अवश्य है कि एक सीमा से आगे बढ़ने पर इससे सामाजिक संगठन में बाधा होगी। खैर, जो हो इस्लाम ने भारतीय समाज में एक समूह के रूप में रहना अस्वीकार किया। अन्य गैर मुसलमानी समूहों की तरह इस्लाम हिन्दुओं को भी अपने अन्दर स्थान देता था यदि वे अपनी संस्कृति के मौलिक सिद्धांतों का परित्याग कर दें। परन्तु हिन्दू धर्म इस्लाम को अपने अन्दर स्वीकार करने को तैयार था यदि वे अपनी संस्कृति के एक अंश को भी न छोड़ें। शर्त केवल यही थी कि गैर मुस्लिम संस्कृति को नेस्तनाबूद करने वाले सिद्धान्त को छोड़ दें। स्वाभाविक रूप में इस संघर्ष में हिन्दू समाज घाटे में रहा और इस्लाम नफे में। इसका कारण हिन्दुओं की सहिष्णुता का सिद्धान्त था जो सक्रिय सहिष्णुता नहीं थी। इस्लाम को पराजित करने से हिन्दू धर्म का कुछ भी सामाजिक लाभ नहीं हुआ। अर्थ यह निकलता है कि हिन्दुओं की सहिष्णुता कोई सक्रिय नहीं है और इसका कोई दृढ़ सिद्धान्त नहीं है परन्तु मुसलमानों की असहिष्णुता सक्रिय है और दूसरी संस्कृतियों के नाश में विश्वास करने वाला इसका अभावात्मक अंश अपनी संस्कृति के विचार और उसकी मजबूती का भावात्मक पक्ष है।

तानाशाही संस्कृतियों के विषय में बोलते हुए कर्ट लिविन ने लिखा है "जनतावादी विश्वव्यवस्था के लिए इस बात की आवश्यकता नहीं कि विश्व भर में सांस्कृतिक एकरूपता हो और न वह इसे पसन्द ही करती है। व्यक्ति की जनतन्त्रीय स्वतन्त्रता के समानान्तर में समूहों की बहुवादिता आती है परन्तु किसी जनतन्त्रवादी समाज को इस बात की रक्षा करनी पड़ती है कि वे लुटेरे जिन्हें राजनैतिक शब्दों में असहिष्णु कहा जाता है इस वैयक्तिक स्वतन्त्रता का दुरुपयोग न करें। असहिष्णु संस्कृति सहिष्णुता के सिद्धांत में विश्वास नहीं करती। अधिकारों

की एकता को नहीं मानती अतः वह सदा प्रजातन्त्रीय विश्वव्यवस्था के लिये खतरे की चीज है। किसी स्थाई शांति के संगठन के लिए असहिष्णु संस्कृति के विरुद्ध असहिष्णुता के भाव धारण करना पहली शर्त है।*

अब प्रश्न यह है कि हम किसके नाम पर असहिष्णु बनें। सहिष्णुता के लिये असहिष्णु बनना एक ऐसा आदर्श है जिसके खोखलेपन को इतिहास ने दिखला दिया हैं। इसके द्वारा किसी समाज की असहिष्णुता पर थोड़ी रोक थाम हो भी जाय परन्तु अवसर पाते ही इसे फिर से असहिष्णु बनने से रोका नहीं जा सकता। अतः यदि असहिष्णु समाज की स्वीकृति के लिये किसी सिद्धांत की स्थापना करना है तो उसका मूलाधार वह कारण होना चाहिये जिसके कारण हम सहिष्णुता का उपदेश देते हैं। यह अबौद्धिक हठवाद नहीं होना चाहिये परन्तु इसे बौद्धिक सिद्धांत होना चाहिये जो मनुष्य के व समाज के वैज्ञानिक अध्ययन के आधार पर बनाया गया है। साम्प्रदायिक नियम अथवा धार्मिक कल्पनाओं के आधार पर नहीं। अतः इसका रूप लौकिक होगा। भावात्मक और सच्ची सहिष्णुता के लिये ही असहिष्णु समाज को इसे अपनाना चाहिये। इस या उस सम्प्रदाय के नाम पर असहिष्णु की असहिष्णुता की व्यर्थता नहीं दिखलाई जा सकती परन्तु आदमी और समाज के नाम पर ही ऐसा किया जा सकता है। इसे सच्चे रूप में मानवतावादी होना चाहिये। उदाहरणार्थ यदि कोई नियम बनाया जाय तो उसका उद्देश्य इस या उस सम्प्रदाय का सुधार नहीं होना चाहिये। यदि इस नियम के बनाने की मूल प्रेरणा मनुष्य व समाज का हित है तो इसे सब सम्प्रदायों पर लागू करना चाहिये। इस ध्येय को सामने रखकर इस नियम की वाक्यावली के लिये हमें काफी सतर्कता से काम लेना चाहिये।

---

*Resolving Cultural conflicts page 36.

(३) दूसरा प्रश्न यह है कि इस आदर्श के लिए हमारे पास मनोवैज्ञानिक और सामाजिक प्रेरक शक्ति किस तरह उपलब्ध हो। राज्य के पास इस आदर्श को क्रियान्वित कराने के लिये पुलिस व सेना है परन्तु यह तभी सफलतापूर्वक काम कर सकती है जब वह जन साधारण की इच्छा का प्रतिनिधित्व करे। वह राज्य की शैक्षणिक नीति की समस्या है। सफल होने के लिए किसी आदर्श को मनुष्य के स्वभाव का अंग बन जाना चाहिये। अरस्तू ने कहा है कि गुण अभ्यास की वस्तु है। जिस अनुपात में कोई आदर्श आदमी का स्वाभाविक अंग बन जाता है उसी अनुपात में वह सफल होता है। यदि व्यक्ति और समाज प्रत्येक परिस्थिति की समस्या तथा उसके समाधान का आदर्श सम्मत सुलझाव खोजने लगे तो उसका कोई भी काम न चले। यदि हम शिक्षा का यह व्यापक अर्थ लें कि शिक्षा का उद्देश्य ज्ञानदान के साथ साथ चरित्र का विकास करना भी है ताकि व्यक्ति उपयोगी नागरिक बन सके तो लड़कपन से ही आदर्श उसके सामने रखने चाहिये। कर्ट लिविन ने पुनः लिखा है कि "जनतन्त्रीय ढांचा राजनैतिक समस्याओं तक ही सीमित नहीं है, वह तो संस्कृति के हर एक रूप में ओत प्रोत है। माता एक दो या तीन वर्ष के बच्चे को किस तरह सँभालती है, व्यापार किस तरह चलाया जाता है, समाज में किस समूह का आदर है, आदर सम्बन्धी अन्तरों के प्रति लोगों की क्या प्रतिक्रिया होती है—ये सारी बातें किसी सांस्कृतिक ढांचे की प्रधान चीज है। अतः प्रत्येक परिवर्तन को इसी जटिल वातावरण की पृष्ठभूमि में उपस्थित करना है। सरकार के द्वारा स्वीकृत मूल्यों तक ही यह सीमित नहीं किया जा सकता। इसे यथार्थ जीवन में उतारना होगा।"[५०] यह कोई नया तथ्य तो नहीं परन्तु है बड़ा महत्वपूर्ण। यदि हमें राजनीति में लौकिक, बौद्धिक और वैज्ञानिक आदर्श की स्थापना करनी है तो इसका समर्थन हर ओर से

५० वही, पृष्ठ ३८

होना चाहिये। समाज संगठन के द्वारा, सामाजिक प्रतिक्रियाओं के द्वारा और समाज के व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध के द्वारा। यदि यह हमारे समाज के लिये उपयोगी है तो विस्तार के साथ इसे लागू करना चाहिये। यदि किसी धार्मिक राज्य का सदस्य अपने धार्मिक आदर्शों के लिये लड़ता है और जान दे देता है तो लौकिक राज्य के सदस्य को भी अपने राज्य की रक्षा के लिये वही करना चाहिये। चाहे वह हिन्दू हो, मुसलमान हो, अथवा ईसाई हो। उसके चरित्र का निर्माण इसी ढंग पर होना चाहिये और उसकी मनोवैज्ञानिक प्रेरणाओं को इसी के अनुरूप मोड़ना चाहिये।

अब हमारे सामने एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है। क्या यह नया आदर्श हमारी गंभीर सांस्कृतिक विशिष्टताओं के साथ मेल खाता है। लिविन लिखते हैं "यह बात सही है कि राष्ट्र के जीवन में क्रांतिकारी सांस्कृतिक भाव जल्दी बदले जा सकते हैं परन्तु इससे यह बात गलत नहीं सावित होती कि किसी राष्ट्र की गंभीर सांस्कृतिक विशिष्टताओं में परिवर्तन की कम गुंजाइश रहती है। स्थायी शांति पर विचार करते समय इन्हीं गंभीर सांस्कृतिक विशेषताओं का ध्यान रखना होगा। जर्मनी में यद्यपि प्रथम विश्वव्यापी युद्ध के बाद और हिटलर के उदय के बहुत पहले शांति के भावों का प्रचार हो गया था तथापि पुनः प्रत्येक बालक खिलौने के सिपाहियों के साथ युद्ध का खेल खेलने में लगा था और शीघ्र ही अपनी पुरानी परम्परा के अनुरूप युद्ध वादियों की विजय होने लगी थी। दूसरी ओर मुसोलिनी दस वर्षों से अधिक तक इस प्रयत्न में लगा रहा कि इटली के निवासियों में वे सैनिक विशिष्टताएं उत्पन्न हों जिनका अभाव पहले विश्वव्यापी युद्ध में पाया गया था।[५७] मुसोलिनी ने इटली के निवासियों के सामने जो आदर्श रखे वे इटालियन निवासियों के चरित्र की आन्तरिक विशिष्टताओं के घोर

---

५७ वही, पृ. ३६

बिरोधी थे। इसका परिणाम भयंकर हुआ। हमें अपने सामने यह प्रश्न रखना है कि क्या हम जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में लौकिकता के आदर्श से काम लेने में सफल हो सकेंगे और मनोवांछित सामाजिक सुदृढ़ता को प्राप्त कर सकेंगे? यदि हमारा आदर्श बुद्धियुक्त है, वैज्ञानिक है और मानवप्रकृति के गंभीर अध्ययन पर आधारित्त है तब हम अवश्य सफल होंगे।

लौकिकता का आदर्श भिन्न भिन्न साम्प्रदायिक आदर्शों को काट ही नहीं देता परन्तु हिन्दू चरित्र के साथ भी मेल खाता है। यह लौकिक होते हुए भी धर्म बिरोधी नहीं हैं। अतः इसे अध्यात्म विरोधी भी नहीं कह सकते। पहले उल्लेख हो चुका है कि हिन्दू संस्कृति का आधार अस्पष्ट ह, लचीला है और आध्यात्मिक है। अपने लचीलेपन के कारण कोई रूप धारण करते हुए भी यह हिन्दू रह सकी है। आज के जमाने में ईसाई धार्मिक राज्य बहुत ही थोड़े हैं और ईसाई लोग लौकिक तथा अलौकिक राजनीति के जीवन से अभ्यस्त हें। विज्ञान तथा उद्योगीकरण के बढ़ते प्रभाव के कारण बहुत से ईसाई प्रदेश और उनकी जनता तर्क व विज्ञान को समझने लगी है। अतः यह नया आदर्श उनको भी पसंद आयेगा जो आज भारतीय समाज के महत्वपूर्ण अंग बन गये हैं। सब कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि मुसलमान इस आदर्श के प्रति किस रूप में प्रतिक्रियाशील होते हैं और कहां तक इसे सफल बनाने में योग देते हैं। हम लोग बहुत दिनों तक धार्मिक शिक्षा की बातें करते रहे हैं परन्तु व्यवहार में यह साम्प्रदायिक शिक्षा तथा कुछ लोगों के मस्तिष्क में सिद्धांतों के आरोपण मात्र बन कर रह गया है। बाद में हम लोगों ने नैतिक शिक्षा की बात सोची परन्तु नैतिक शिक्षा देने वाले शिक्षकों को पूर्ण आचारवान होना चाहिये। दूसरी बात यह है कि हम किस नैतिक नियम की शिक्षा दें। इसकी पृष्ठभूमि इस्लाम की साम्प्रदायिकता हो, ईसाइयों की साम्प्रदायिकता या हिन्दुओं की साम्प्रदायिकता

जो पारस्परिक घृणा और द्वेष के भावों से पूर्ण है ? नहीं, यह अच्छा होता कि हम लोग प्रत्येक बालक में नागरिक भावनाओं को जागृत करने तथा साम्प्रदायिक घृणा के भावों को उकसाने वाली शिक्षा को दंडित करते।

अतः यह नूतन लौकिक चरित्र निर्माण और नागरिक भाव सब शिक्षण संस्थाओं का आदर्श होना चाहिये। परन्तु क्या मुसलमान यह कह सकेंगे कि इस आदर्श के प्रचार से उनके धर्म को खतरा होगा ? अगर वे ऐसा कहें तो राज्य को क्या करना चाहिए ? जब श्री प्रकाशन ने मद्रास में मुख्य मंत्री की हैसियत से इस बात की घोषणा की कि प्रत्येक व्यक्ति को राशन के रूप में पांच गज कपड़ा मिला करेगा तो मुसलमानों की ओर से आपत्ति हुई कि यह धर्म के विरुद्ध है। उनके धर्म के अनुसार प्रत्येक मुसलमान औरत को सात गज कपड़ा पहनना चाहिये। यह एक ऐसा उदाहरण है जहां नागरिक उत्तरदायित्व को धर्म के विरोध में ला बठाया गया है। यह कहा जाता है कि मुसलमानों को कन्सेशन दिया गया। मान लीजिए कोई मुस्लिम धार्मिक राज्य मुसलमानों की धार्मिक शिक्षा के लौकिकीकरण से घबराता हैं, ऐसी सूरत में राज्य को क्या करना चाहिये। पहला कह सकता है कि इस तरह का लौकिकीकरण उसकी सांस्कृतिक हत्या है। ऐसी अवस्था में मुसलमानों के सहयोग से ही समस्या हल हो सकती है। उन्हें अपनी धार्मिक प्रवृत्तियों को दूर करने के लिये तैयार रहना चाहिये। नहीं तो यदि राज्य की ओर से कन्सेशन दिया जाता है तो उसका लौकिकीकरण अधूरा व कमजोर होगा। एकता में बाधा उपस्थित होगी। आदर्श व व्यवहार में अन्तर आ जायेगा। यदि एक क्षेत्र के व्यवहार में आदर्श का समर्थन नहीं मिलता तो दूसरे क्षेत्रों से भी उसका समर्थन धीरे धीरे हटने लगेगा। परिणाम यह होगा कि देश का सामाजिक संगठन राजनैतिक आदर्शों के साथ मेल नहीं खा सकेगा और हमारा समाज एक इकाई के रूप में बाहरी

संघर्षों के प्रति क्रियाशील नहीं हो सकेगा। भारत की शक्ति इस बात पर निर्भर करती है कि कहां तक और किस सफलता के साथ इसके नागरिकों के चरित्र में यह लौकिक नागरिक आदर्श जम गया।

भारतवर्ष एक बहुत बड़े प्रयोग में संलग्न है। भारतवासी स्वभावतः आदर्शवादी हैं और यथार्थवादिता का सामना करने से घबराते हैं। यहां तक कि कभी कभी तो इसी इच्छा तक वे अपने को सीमित नहीं रखते कि यथार्थवादिता नहीं रहती तो अच्छा रहता परन्तु वे ऐसा आचरण भी करते हैं कि मानो वह हो ही नहीं। इस कथन में कुछ सत्यता का अंश है कि भारतीयों को ऐतिहासिक बुद्धि नहीं। यह कहना पर्याप्त नहीं है कि भारत ने अनेक महान इतिहास के अध्यापकों को उत्पन्न किया है। हमारे व्यवहार से यह पता चलना चाहिये कि हम इतिहास की सत्यता में विश्वास करते हैं। उदाहरणार्थ, उन नैतिक सामाजिक और राजनैतिक कार्यक्रमों को लीजिये जिनकी हमने घोषणा की है और जिनके आधार पर हमारी परीक्षा होगी। कोई नहीं कहेगा कि यह कार्य-क्रम गलत है। नहीं, वह महान् व उपयोगी है परन्तु पाकिस्तान ने अधिक यथार्थवादी और ऐतिहासिक बुद्धि का प्रदर्शन किया है। वह अपनी कमजोरियों को व शक्तियों को जानता है और अनावश्यक शब्दों के प्रयोग से उनको नैतिक रूप से महिमान्वित नहीं करना चाहता। आदर्श और व्यवहार में अन्तर तो होता है पर वह अन्तर ऐसा नहीं होना चाहिये कि वे विरोधी जान पड़ें। हमारे आदर्शवाद को ऐसा होना चाहिये जो यथार्थ और उससे उत्पन्न समस्याओं के प्रति आँख मूंद लेने के लिए न प्रोत्साहित करे।

उदाहरणार्थ, पाकिस्तान कहेगा कि उसने प्राचीन इस्लामी आदश को अपनाया है। वह किसी आत्म-सुधार सम्बन्धी जोश का प्रदर्शन नहीं करता और इस बात का दावा नहीं करता कि वह अपने लोगों पर

किसी नए आदर्श को थोप रहा है। अतः संसार की आंखों में वह सुरक्षित है। परन्तु भारतवर्ष की शक्ति इसमें है कि वह कहां तक सफलतापूर्वक अपने नागरिकों पर नये आदर्शों को थोप सकता है। अर्थात् कहां तक वह अपने नागरिकों को जाति सिद्धांत और मत की पर्वाह किये बिना ही एक लौकिक आदर्श को मानने में सफलतापूर्वक प्रयुक्त कर सकता है और आवश्यकता पड़ने पर उसके लिए युद्ध करने को भी। उसे आन्तरिक व बाह्य दोनों रूपों में अपने आदर्श के लिये शक्ति की मान्यता प्राप्त करनी पड़ेगी। इसी आदर्श की सफलतापूर्वक उपलब्धि के अनुसार ही भारत के भविष्य का निर्माण होगा। इस बात की सफलता इस पर निर्भर है कि भारतवर्ष के मुसलमानों से उसे कितना सहयोग प्राप्त होता है। उन मुसलमानों को अपनी संस्कृति के उन पहलुओं का परित्याग करने के लिए तैयार रहना होगा जो लौकिक राजनीतिक आदर्शों और गैरमुस्लिम सम्प्रदायों के आदर्शों से टकराते हैं। मतलब यह है कि मुसलमानों के लिए आत्मालोचन इतना ही आवश्यक है जितना अन्य सम्प्रदायों के लिये। साधारणतः उनका आश्रय बुद्धि होनी चाहिये अविवेक नहीं चाहे वह कितना ही Authentative हो।

एक और भी कार्यक्रम है कि सारे बुद्ध मतावलम्बी देशों को पाकिस्तान के वृहत्तर इस्लाम वाले आन्दोलन के विरोध में संगठित किया जाय। परन्तु कांग्रेस तथा अन्य कुछ साम्प्रदायिक संगठन इसकी ओर अधिक ध्यान नहीं देते। इसी तरह भारत की ऐतिहासिक बुद्धि की कमी का पता चलता है। वृहत्तर इस्लाम एक ऐतिहासिक तथ्य है जो जिहाद या खिलाफत के रूप में बार बार उठकर अपना प्रदर्शन करता रहा है। धार्मिक आदर्श के अन्तराल में इसकी सत्ता वर्तमान है और यदि यह अपने उद्देश्य की उपलब्धि में सफल नहीं हो सका तो उसका उत्तरदायित्व वैयक्तिक और राष्ट्रीय ईर्ष्या पर ही है। परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दू या बुद्ध धर्म में इसके तर्ज की कोई चीज़ नहीं पाई जाती

हिन्दू धर्म ने कभी भी धार्मिक और लौकिक सत्ता के एकीकरण को स्वीकार नहीं किया और बौद्ध धर्म ने तो एक विशेष सामाजिक संगठन की प्राप्ति की भी परवाह नहीं की। इसलिये भारतवर्ष व अन्य बुद्ध मतावलम्बी देशों में यदि एकता कभी भी हो सकी तो इन धार्मिक कारणों के आधार पर नहीं होगी क्योंकि इन दोनों संस्कृतियों में भारतवर्ष तथा बाहर तिब्बत को छोड़ कर धार्मिक एकता सामाजिक या राजनैतिक एकता से भिन्न चीज़ थी।

हमारे लौकिक आदर्श के समर्थन के लिये एक सच्ची और नई रचनात्मक प्रेरणा की आवश्यकता है जो हमारे आध्यात्मिक विकास में बाधा उपस्थित नहीं करे।

(४) हिन्दू संस्कृति के आध्यात्मिक आधार के कारण जो अस्पष्टता आई वह सामाजिक प्रवृत्तियों की अस्पष्टता के रूप में प्रतिफलित हुई अर्थात् इसने सब समूहों पर कोई विशेष सामाजिक बाह्य विधान लादने के लिए जोर नहीं दिया अर्थात् आध्यात्मिक जीवन के लिये इस बात का कोई महत्व नहीं कि कोई समूह किस बाहरी सामाजिक रूप विधान को अपनाता है। यह उदासीनता तो एक युग में इसकी महानता का कारण बनी परन्तु आगे चलकर यही हिन्दू संस्कृति की कमजोरी भी प्रमाणित हुई। परन्तु हम इस कमजोरी को शक्ति और प्रगति के रूप में बदल सकते हैं यदि हम इस आध्यात्मिक उदासीनता का पूर्ण रूप से उपयोग करें और एक दृढ़ सामाजिक रूप विधान को अपनाये जो हमारी सामाजिक एकता को दृढ़ करे। यदि हमारी आध्यात्मिकता सामाजिक रूप विधान की विविधता के प्रति उदासीन थी तो वह उसी तरह एकता के प्रति भी उदासीन रहेगी। सामाजिक दृढ़ता और स्थिरता के लिये सांस्कृतिक एकता पहली शर्त है। एक ही समाज में सांस्कृतिक बहुविधित्व चित्र-विचित्रता इत्यादि की बातें करना इस महत्वपूर्ण बात की अवहेलना करना होगा। क्योंकि इसके कारण समाज में भेदक प्रवृतियों का जन्म होता है, समाज कमजोर हो जाता है। यह व्यावहारिक और यथार्थवादी नहीं है। एक

समाज में सांस्कृतिक एकता की उपलब्धि केवल वांछनीय ही नहीं परन्तु सम्भव भी है। ऐसी अवस्था में हममें इतनी शक्ति आ जायगी कि हम वाह्य आघातों का सामना कर सकें और हम लोग अपनी आध्यात्मिक विशेषता को भी बनाये रखेंगे क्योंकि हमारा आधार नमनीय आध्यात्मिकता है।

(५) आज भारतीय संस्कृति बहुत सी संस्कृतियों को लेकर चल रही है। सांस्कृतिक एकता का मतलब यह नही है कि इन विभिन्न संस्कृतियों का नाश कर दिया जाय। प्राचीन भारत में सामाजिक एकता की स्थापना की विधि यह थी कि सब इकाइयों को हिन्दू समाज में जगह दी जाय परन्तु सबको अपने अपने रूप में जीवन यापन करने की भी स्वतन्त्रता दी जाय। एकता के नाम पर इतना ही किया जाता था कि उनकी क्रियाओं तथा व्यापारों की आध्यात्मिक व्याख्या की जाती थी। इस पद्धति के मूल में सहिष्णुता की तथा जीओ और जीने दो की भावना कार्य करती हैं। परन्तु इस पद्धति का ध्येय प्रत्येक समूह को अपने ढंग से जीने भर की स्वतन्त्रता ही नहीं देना था परन्तु उसे चाहिए था कि प्रत्येक को अच्छे ढंग से विकसित होने के योग्य बनाए। इस उद्देश्य की प्राप्ति तत्कालीन परिस्थितियों में संभव न थी परन्तु परिस्थिति के बदल जाने पर भी इस तरह के परिवर्तन की आवश्यकता नहीं समझी गई। यदि प्रयत्न किया जाता तो अन्त में चलकर एकरूपता और सामाजिक सुदृढ़ता की उपलब्धि अवश्य होती। आज भी हम यही कहते हैं कि सब संस्कृतियां अपने उच्चतम मूल्यों को प्राप्त करने में समर्थ बनाई जायँ। मान लीजिए यह आदर्श उपलब्ध हो गया तो संसार में एक तरह की महत्वपूर्ण एकता की स्थापना अवश्य ही प्राप्त हो जायगी। सांस्कृतिक विभिन्नता और विविधता का अर्थ यह नहीं लगाना चाहिए कि निम्न और पिछड़ी संस्कृतियां अपने पुराने ढंग से ही जीवन यापन करती रहें। नहीं तो एक विश्व व्यापी रूप में जाति प्रथा की स्थापना हो

जायगी । यदि एक जाति से दूसरी जाति में सामाजिक गमनागमन आवश्यक है और जाति प्रथा इसकी आज्ञा नहीं देती, अतः त्रुटि-पूर्ण है, तो यह बंधन एक संस्कृति से दूसरी संस्कृति में गमनागमन पर भी लागू होगा। इस तरह का गमनागमन निरर्थक नहीं है। इसे एक मात्र एक जाति या संस्कृति से दूसरी जाति या संस्कृति में गमन ही नहीं समझना चाहिए परन्तु एक बहुत बड़े ध्येय से प्रेरित होकर यह गमनागमन संभव होता है। संसार की संस्कृतियां इसी तरह प्रगति करती हैं।

सब ललित कलाओं जैसे संगीत, साहित्य, चित्रकला, नृत्य कला आदि में आध्यात्मिक एकता रहती है और यह प्रत्येक व्यक्ति में एक रूप में वर्तमान है। अब हमारा आदर्श यह होना चाहिये कि इसके साथ साथ सामाजिक एकता भी स्थापित हो। वाइटहेड के इस कथन में बहुत सत्यता का अंश है कि धर्म एकांत की चीज है अर्थात् आध्यात्मिक जीवन अनिवार्य रूप से वैयक्तिक होता है पर सामाजिक एकता दूसरी ही प्रकार की होती है। सामाजिक एकता की तरह आध्यात्मिक एकता की उपलब्धि वैयक्तिक नहीं होती। हमारी ललित कलाओं के जो उद्देश्य हैं अर्थात् शृंगार और करुणा वे मनोवैज्ञानिक रूप से वैयक्तिक हैं और उनका ध्येय आध्यात्मिक एकता की उपलब्धि है। हमारा कर्त्तव्य है कि ललित कलाओं के सामने इस सामाजिक एकता के आदर्श को भी रखें। हां, यह किस ढंग से उपलब्ध हो इसका निर्णय विशेषज्ञ ही करेंगे। मुस्लिम संस्कृति के सामने ऐसा कोई प्रश्न नहीं है क्योंकि ललित कलाओं को केवल मनोरंजन का साधन समझ कर वहां नीची नजरों से देखा जाता है। परन्तु हिन्दू संस्कृति में उन्हें आध्यात्मिक उपलब्धि के साधन रूप में विकसित किया गया है जो निश्चय ही वैयक्तिक है। अब अपने सौंदर्य मूलक आदर्शों का निर्माण सामाजिक एकता की उपलब्धि के ध्येय को सामने रख कर करना है।

सामाजिक एकता आन्तरिक शांति और बाहरी क्रिया के लिए होती है। आध्यात्मिक एकता का उद्देश्य आत्मा की उपलब्धि, संतोष शांति,

तथा आन्तरिकता की प्राप्ति होती है। इसका परिणाम बाहरी नैष्कर्म्य होती है जो संतोष का परिणाम हैं। ध्येय की प्राप्ति होने पर आदमी संतोष कर लेता है और उस ध्येय के लिए कुछ करना नहीं रह जाता। शांति, शृंगार और करुणा हमारे उच्चतम भावात्मक आदर्श हैं क्योंकि आध्यात्मिक रूप से वे हमारे अहम् को गला देते हैं और चरम सत्य को ग्रहण करने के लिए उसे पारदर्शक बना देते हैं। पर हमारा अहम् जितना ही गलेगा उतनी ही क्रियाशीलता की कमी होगी पर सामाजिक स्तर पर हमें संगठित रूप से क्रियाशील होने की चेष्टा करनी पड़ती है। यदि ललित कलाओं को सामाजिक संगठित क्रियाओं का प्रेरक बनाना है तब उनके आदर्शों को हमें अपनी उन आंतरिक प्रवृत्तियों के मूल में खोजना होगा जो क्रिया को जन्म देती हैं। जिस तरह प्राचीन पद्धतियां शांति, शृंगार और करुणा के आनन्दों को प्राप्त करने में हमें समर्थ बनाती हैं उसी तरह नई पद्धतियों को इतना समर्थ होना चाहिये कि वे सामाजिक क्रिया के आनन्दोपभोग के लिए हमें समर्थ बना सकें। इसके लिए आदर्श और उसकी पद्धति दोनों का आधार मानव प्रकृति होना चाहिये और कृत्रिम रूप में बाहर से थोपा नहीं जाना चाहिए।

(६) हमने उल्लेख किया है कि सांस्कृतिक एकता के लिए राजनीतिक एकता भी होना कोई जरूरी नहीं है और भारतवर्ष में सांस्कृतिक एकता तो सच्ची सामाजिक दृढ़ता भी नहीं उत्पन्न कर सकी। यद्यपि सांस्कृतिक एकता राजनीतिक एकता नहीं है परन्तु उसे राजनैतिक एकता का समर्थन करना चाहिए। इसमें कुछ राजनैतिक एकता के विरोधी तत्व वर्तमान हों तो उन्हें इस रूप में परिवर्तित कर देना चाहिए कि वे मेल से काम कर सकें।

(७) हमारी संस्कृति के आध्यात्मिक होने के कारण इसका रूप आंतरिक हो गया। आध्यात्मिकता को सामाजिकता से अलग कर दिया

गया है। अतः वह व्यक्तिवादी बन गया है। इससे हमारे जीवन में गहराई तो अवश्य आई है परन्तु हममें एक तटस्थता और स्वतः पूर्णता की भावना भी जगी है। यद्यपि भारतवर्ष के बाहर विशेषतः बुद्ध धर्म के प्रयत्नों के फलस्वरूप आध्यात्मिकता का प्रचार हुआ परन्तु जीवन के भिन्न पहलुओं को आध्यात्मिक रूप देने की हमारी पद्धति का प्रचार नहीं हुआ। हम लोगों ने अपने आध्यात्मिक आविष्कारों को दूसरों को दे दिया। आध्यात्मिक क्षेत्र में हमारा दान तो बहुत था परन्तु हमने दूसरों से लिया कम। हमने दूसरों को अपने सामाजिक रूपों को देने की पर्वाह न की। दूसरों ने लेने की पर्वाह न की और न हमने देने की। अतः हमें किसी संघर्ष का अनुभव न हुआ। हमें इन बातों पर विचार करने का अवसर कम मिला और हम इस बात को महसूस नहीं कर सके कि हमारी त्रुटि कहां है। इस विचार से कि दूसरी संस्कृतियों से हमें कुछ भी आध्यात्मिकता प्राप्त नहीं करनी है हमने गलत परिणाम निकाला कि उनमें कोई ऐसी सामाजिक और राजनैतिक बातें नहीं हैं जिन्हें लेकर हम लाभ उठाये। हमें चाहिए था कि दूसरों के सामाजिक और राजनैतिक संगठनों के अध्ययन के लिए ह्यानचांग और फाहियान जैसे व्यक्ति पैदा करते। इस तरह की उदासीनता आज से कुछ शताब्दी पहले गलती थी तो आज की परिस्थिति में तो यह और भी भयंकर भूल होगी। हमें इस बात पर गंभीरतापूर्वक विचार करना चाहिए कि क्यों हम लोग दूसरों को देते ही रहे और इस सांस्कृतिक आदान प्रदान में कुछ लेने की पर्वाह न की ?

(८) यदि हमारी संस्कृति आज अन्य धर्मों के साथ साथ एक संगठित सामाजिक आचरण प्राप्त करना चाहती है तो व्यक्ति के व्यक्तित्व में एक मनोवैज्ञानिक परिवर्तन लाने की आवश्यकता है क्योंकि बिना उपयुक्त व्यक्तिगत व्यवहार के सामाजिक व्यवहार असंभव है। प्रश्न यह नहीं है कि भगवद्गीता कर्म या निष्कर्म के सिद्धान्त का प्रचार करती

है । परन्तु प्रश्न यह है कि व्यक्ति के व्यक्तित्व में कहां तक क्रियात्मक प्रेरणाओं का सन्निवेश है । हम पर जो नैष्कर्म्य का लांछन लगाया जाता है वह भले ही ठीक न हो अथवा यह भौगौलिक या राजनैतिक परिस्थितियों के कारण हो जिसे दूर किया जा सकता हो । यदि हम चाहते हैं कि व्यक्ति क्रियाशील या तत्पर हों तो हमें ऐसे ढ़ंगों का आविष्कार करना चाहिए कि जिनसे विरोधों और नियंत्रणों को हटाया जा सके । हो सकता है व्यक्ति तो क्रिया के लिये तैयार हो परन्तु समाज नहीं । अतः व्यक्ति के व्यक्तित्व और जीवन के प्रति उनके दृष्टिकोण को बदलना भी बहुत महत्वपूर्ण है ।

(६) साथ ही भारत में मुसलमान नागरिकों का भी प्रश्न है । वे अब भारतीय समाज के एक अंग बन गए हे और उसके कल्याण और उन्नति के लिये भी हमें उतनी ही चिंता होनी चाहिये जितनी किसी और सम्प्रदाय की । उन्हें भारत की नई परिस्थितियों के अनुसार ही नहीं परन्तु विश्व में द्रुतगति से होने वाले परिवर्तनों के अनुरूप भी बदलना है । अगर भारत को शक्ति सम्पन्न होना है तो इस्लाम में अन्तर्निहित जो धार्मिक आदर्श हैं उसे भूल जाना होगा जिस तरह सारे संसार के मुसलमानों ने खिलाफत के विचार को भूलकर छोड़ दिया । उन्हें इस बात के लिए तैयार हो जाना चाहिये कि अपने आत्मविश्लेषण व मूल्यांकन के लिये संसार की बौद्धिक कसौटी को अपनाएँ और अतीत में जो परिस्थितियों के कारण कुछ मूल्यांकन सा लगता हो उसे छोड़ दें । विवेक सब में रहता है । अतः वह सबको एकता के सूत्र में बांध सकता है और अविवेक अलग करता है । यदि मनुष्य एक होना चाहते हैं तो उन्हें विवेक की आज्ञा को पालन करने का साहस बटोरना चाहिये । आज के युग में सम्प्रदायवाद के विरुद्ध युद्ध करने के बहुत से कारण हैं । मुसलमानों को समझ लेना चाहिये कि (क) लौकिक और आध्यात्मिक नेतृत्व की एकता की भावना पुरानी पड़ चुकी है । उन्हें अपनाना न तो संभव है और न वांछनीय (ख) अपने लिए अब धार्मिक

राज्य की स्थापना करना न तो संभव है और न उचित ही (ग) जीने का अधिकार मनुष्य का मौलिक अधिकार है और वह दूसरी संस्कृतियों के नाश की भावना से सर्वथा विपरीत है चाहे यह धर्म के नाम पर ही क्यों न हो (घ) जब हम दूसरे सम्प्रदायों से यह आशा करते हैं कि जीवन के परिवर्तित रूप के कारण उन्हें अपने रंग ढंग को बदलना है तो मुसलमानों को भी ऐसा करना होगा ताकि अन्त में चलकर सब एक तरह के जीवन को अपना सकें जो बौद्धिक और वैज्ञानिक होगा (ङ) आज भी धर्मयुद्धों और जिहादों की बात सोचना मानव प्रकृति की सूई को पीछे कर देना होगा (च) उनका कर्तव्य है कि एक नूतन भारतीय जीवन के विकास में सहायता दें जो अपने अतीत के दोषों से मुक्त होगा।

(१०) समाज को संगठित रूप में काम करने के लिये योजना बनाने की समस्या के कारण एक मानवीय समस्या उत्पन्न होती है जिसका विश्वव्यापी महत्व है। हमने कहा है कि अतीत में हिन्दू और मुसलमानों के बीच जितने युद्ध हुये थे वे मुसलमानों के लिये तो दो सम्प्रदायों के बीच के युद्ध थे और हिन्दुओं के लिए शासक और युद्ध प्रिय लोगों के युद्ध थे। हिन्दू नागरिक तो उनके प्रति दिलचस्पी लेते ही नहीं थे परन्तु मुसलमानों के लिये यह दो समाजों के बीच का सर्वमुखी युद्ध था। इस तरह मुस्लिम समाज ने सैनिक छावनी का रूप धारण कर लिया था जो युद्ध के लिये सदा तैयार रहती थी। हिन्दू समाज सभ्यों का समाज था जो सभ्य व्यापारों में लगा रहता था और खतरे के समय में ही उन्हें सैनिक संगठन करने की आवश्यकता पड़ती थी।

विजयनगर ने इस परिस्थिति को कुछ हद तक समझा और एक ऐसे नगर का प्रयोग करना चाहा जो प्रायः सैनिक छावनी की तरह हो। परन्तु तत्कालीन परिस्थितियों के बीच यह प्रयोग अधिक दिन तक चल नहीं सकता था। अतः असफल रहा क्योंकि मुस्लिम सदा युद्ध करते, इधर से उधर आते जाते रहते और हिन्दू जैसे स्थिर जाति समूह की

आमदनी पर जीवन निर्वाह करते थे। मरहठों ने समस्या को अधिक गहराई से समझा और एक चलते फिरते सैनिक संगठन को जन्म दिया। परिणाम यह हुआ कि देश भर में अराजकता और अरक्षा फैल गई। यहां तक कि लोगों को यह नहीं मालूम होता था कि लुटेरे हिन्दू हैं या मुसलमान। आंध्र देश में तो परम्परा से यही बात कही जाती है कि मरहठों की सेनाओं ने ही हिन्दू मंदिरों और मूर्तियों का विध्वंस किया। इन मंदिरों के पुरोहितों से जब यह कहा जाता है कि मरहठे हिन्दू हैं तो उन्हें बात समझ में नहीं आती।

प्रश्न हमारे सामने यह है कि माना कि लौकिक ढंग से समाज के संगठन की योजना बनाई जाय परन्तु क्या इसका परिणाम एक सर्वसत्ताकारी युद्ध नहीं होगा जिसमें जान बूझ कर सब नागरिकों की हत्या की जायगी जिस बात को प्राचीन हिन्दू आदर्श ने त्याज्य समझा था। यह एक जटिल समस्या है। यदि एक राज्य का समाज दूसरे राज्य के समाज के विरोध में विनाशकारी पद्धतियों का अवलम्ब लेता है और दूसरा नहीं तो निश्चय ही दूसरा घाटे में रहेगा। गत महायुद्ध में मित्र राष्ट्रों ने नागरिक जनता की हत्या को बचाना चाहा परन्तु परिस्थितियों से वाध्य होकर उन्हें इस नीति को छोड़ देना पड़ा। यह प्रश्न उसी परि-स्थिति का नहीं है जहां धार्मिकता और लोकिकता का प्रश्न हो। प्रजा-तन्त्र में जनता के प्रतिनिधित्व द्वारा ही शासन प्रचालित होता है। इस सिद्धान्त को अगर बहुत दूर तक खींचा जाय तो विश्व के सारे देशों के सामने यह समस्या उपस्थित होती है। तानाशाही के लिये यह कोई आवश्यक नहीं है कि वे फासिस्ट या नात्सी रूप ही धारण करें। वे धार्मिक भी हो सकते हैं। जहां राजनीतिक तानाशाही धार्मिक रूप धारण करती है तो यह और भी भयंकर हो जाती है और इसकी पद्धतियां नात्सीवाद से भी अधिक क्रूर हो सकती हैं। नात्सीवाद में तो आध्यात्मिक नेतृत्व के पृथकत्व के कारण कुछ हद तक नियन्त्रण भी था। संसार की शांति को खतरा उस तानाशाही से अधिक है जिसमें

राजनीतिक और आध्यात्मिक नेतृत्व एक है बनिस्बत उन देशों के जहां ये दोनों पृथक् पृथक् हैं और यह खतरा उन देशों के लिये और भी अधिक है जो सामाजिक और धार्मिक रूप में फासिस्ट नहीं हैं। ऐसी सूरत में इन समाजों को अपनी सामाजिक सुदृढ़ता को तदनुरूप बदलना होगा ताकि वे साम्प्रदायिक फासिस्टवाद के आक्रमणों के विरुद्ध अपनी रक्षा कर सकें। नहीं तो फासिस्ट समाजों को अपनी मुख्य प्रवृत्तियों को छोड़ देना पड़ेगा। यदि घाटे में रहने वाले लोगों को अधिक कमजोर होने से बचाना है तब लाभ में रहने वाले समाज को परिवर्तित हो जाना होगा। सच्चा मानववाद व्यक्ति के अधिकारों और गौरवों को महत्व देता है परन्तु सम्प्रदायवाद, धर्मवाद और फासिस्टवाद इसके विरोधी हैं।

(११) हमने ऊपर कहा है कि आज के प्रत्येक आदर्शों में सम्प्रदायवाद, समाजवाद तथा प्रजातन्त्रवाद चाहे वे आध्यात्मिक हों या भौतिक सब में मानववाद के लिये पक्षपात के भाव हैं और जीवन का कोई दर्शनशास्त्र सच्चे अर्थों में मानववादी नहीं हो सकता यदि वह आदमी की आर्थिक आवश्यकताओं पर ध्यान न दे। हमारे प्राचीन दार्शनिक भी आर्थिक मूल्यों के महत्व को पहचानते थे और कहा था कि अर्थ हमारे जीवन के चार पदार्थों में से है चाहे वह सबसे निम्न श्रेणी का ही क्यों न हो। परन्तु अपनी व्यवस्थित दर्शन पद्धतियों ने इनकी बहुत थोड़ी ही चर्चा की। जीवन के दर्शन का कोई दर्शन मानवजीवन का दर्शन है पर-ब्रह्म का नहीं। आर्थिक मूल्य अन्य मूल्यों की तरह ही मनुष्य व समाज के लिये महत्वपूर्ण है। इस बात के पूर्ण ज्ञान के अभाव से जीवन के पूर्ण महत्व को हम नहीं समझ सकते। हमें कहना पड़ता है कि कोई सामाजिक या राजनैतिक संगठन जिस अभाव की अवहेलना करता है उसमें सुधार की आवश्यकता है। अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक पुनर्व्यवस्था को भूल जाना गलत है। यह व्यवस्था किस तरह सम्पन्न हो? यह व्यवहारिक राजनीति का प्रश्न है परन्तु इस प्रश्न का सांस्कृतिक महत्व

भी है और जीवन के अधिकार का अर्थ जीवन की आधारभूत आवश्यकताओं का अधिकार है। सन्यासी को छोड़कर भावात्मक, नैतिक और आध्यात्मिक सफलता आर्थिक सफलता के साथ बंधी हुई है। हमारे आदर्श तथा हमारे सामाजिक संगठन ऐसे होने चाहिये कि वे जीवन के सम्पूर्ण मूल्यों की प्राप्ति में बाधक न हों और उनकी अवहेलना न करें तभी हमारी संस्कृति सच्चे अर्थों में मानववादी कही जायगी।

(१२) ऊपर की चर्चा से यह बात स्पष्ट हो गई होगी कि जो कुछ भी हमें करना है वह हमें मनुष्य व्यक्ति व समाज के हित की दृष्टि से करना चाहिये। हममें अपने प्राचीन दर्शन की परम्परा के लिए गौरव के भाव हैं और हमारा यह गौरव उचित है पर मनुष्यमात्र आध्यात्मिकता को लेकर ही नहीं बना हैं। हां, यह सच है कि धर्म के लिए रविवार को पृथक् नहीं रख लेना चाहिये ताकि शेष दिनों की हमें धर्म और नीति से छुट्टी मिल जाए। प्रत्येक दिन आराम व चिन्तन के लिये हमें अवकाश नहीं मिल सकता। उसी तरह दर्शन का ध्येय यह होना चाहिए कि वह मनुष्य की आध्यात्मिकता की उन्नति से सम्बन्ध रखने वाली बातों की ही व्याख्या न करें। मनुष्य का विकास नैतिक भावात्मक और आर्थिक दृष्टि से भी होना चाहिये। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के मूल्य जीवन के मूल्य हैं। जीवन एक क्षेत्र में विकसित हो और शेष की हम अवहेलना करें यह सम्भव नहीं क्योंकि जीवन एक और अविभाज्य है। जीवन का कोई दर्शन किसी एक मूल्य के एकांगी विकास पर जोर देता है तो वह अपूर्ण है। हम कहते हैं कि जो मनुष्य आर्थिक मूल्यों को अत्यधिक महत्व देता है वह कंजूस और भौतिकवादी है, वह मनुष्य जो अपने भावात्मक आनंद को ही जीवन का ध्येय मान लेता है वह विलासी है, वह जिसका ध्येय धार्मिक अनुशासन है वह नीतिवादी कहा जाता है। इसका यही अर्थ है कि वह पूर्णरूप से मानव नहीं है परन्तु हमारे हृदय में मोक्ष के ध्येय को लेकर चलने वाले व्यक्ति के लिए सर्वोच्च आदर के भाव हैं। मानवतावादी दृष्टिकोण के अनुसार किसी का भी जीवन पूर्ण नहीं।

हम कहते तो हैं कि एक सन्त का जीवन परिपूर्ण होता है। परन्तु इसीलिए कि उसकी आत्मा अति ही प्राचीन होगी और अपने पूर्व जन्मों में अनेक योनियों में परिभ्रमण करती हुई जीवन के निम्न स्तरों का भी उसने पूर्ण रूप से अनुभव किया होगा। परन्तु उसके आदर्शों को हम सबके सामने नहीं रख सकते। कारण, अधिकांश मनुष्यों की आत्मायें नवीन और अपरिपक्व होती हैं। अतः जो दर्शन सर्व सामान्य होने का दावा करे उसे जीवन का पूर्ण दर्शन होना पड़ेगा। यह बात तो सही है ही कि हमारे प्राचीन परम्परागत दर्शनों ने निम्न मूल्यों के दर्शन को विकसित करने की पर्वाह नहीं की। परन्तु साथ में एक और बात भी है। हमारे पास कोई बौद्धिक रूपाकार नहीं है जिसके सहारे हम जीवन के सभी मूल्यों की व्याख्या कर सकें और इस बात को महसूस कर सकें कि हमारे व्यवस्थित दर्शन जीवन के पूर्ण दर्शन नहीं हैं। उदाहरणार्थ, हम लोग ब्रह्म का अनुवाद Absolute के रूप में करते हैं और ऐसा समझते भी हैं। परन्तु Absolute शब्द का प्रयोग एक विशेष तर्क संगत गुणार्थ में होता है और पश्चिम के दार्शनिक इस शब्द का प्रयोग उसी अर्थविशेष में नैतिक, राजनैतिक और सामाजिक दार्शनिक क्षेत्रों में करते है। परन्तु हम ब्रह्म शब्द का प्रयोग उसी तरह नहीं कर सकते। यदि हम Absolutism in Politics का अनुवाद "राजनीतौ ब्रह्मत्वम्" अथवा राजनीति में ब्रह्मत्व करें तो उससे कुछ भी अर्थ नहीं निकल सकेगा। इसका कारण यही है कि हमारा दर्शन है तो जीवन दर्शन ही परन्तु जीवन के सब पहलुओं को इसने अपनी सीमा में नहीं लिया है और इसी लिए अपूर्ण है। हम लोगों ने जीवन के सब पहलुओं को घेरने के लिए कोई व्यापक और स्पष्ट योजना नहीं बनाई थी। परन्तु कोई भी दर्शन सच्चे अर्थ में मानववादी होने का दावा तब तक नहीं कर सकता जब तक उसके व्यापकत्व की सीमा में पूरा मानव जीवन नहीं आ जाता। अतः हमें अब अपने दर्शन में मानववाद का पुट देना होगा। अपनी पूरी संस्कृति और दर्शन में सतर्क होकर हमें मानवतावादी रूपान्तरण उपस्थित करने का प्रयत्न करना होगा। हो सकता है कि दूसरे ढ़ंग का मानवतावाद चाहे वह पूर्वी या पश्चिमी यूरोप का हो या अमेरिका का, हमारे लिए उपयोगी न हो। मानवतावाद ने जो

रूप धारण किये हैं या कर रहा है वह युग विशेष की उपज है। हमें आलोचनात्मक दृष्टि से विचार कर दूसरी संस्कृतियों में मानवतावाद के नाम पर जो कुछ सर्वोत्तम तत्व वर्तमान है उसे ग्रहण करना होगा और अपने मानवतावाद के स्वरूप का निर्माण करना होगा। सब कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि मानव और मानव मूल्यों की हमारी जानकारी किस हद तक सच्ची है। दूसरी संस्कृतियों ने और हमारी प्राचीन संस्कृति ने भी मनुष्य के किसी एक पहलू पर ही विशेष जोर दिया है जो देश और काल के अनुसार उपयोगी भी था। आलोचनात्मक दृष्टिकोण और आत्म विश्वास की दृढ़ता से हमें गलतियों से बचने तथा त्रुटियों को दूर करने की शक्ति मिलेगी। पुनः एक बार मैं जोर देना चाहता हूँ कि बुद्धि-पूर्वक और सतर्कता-पूर्वक लाया गया ऐसा मानववादी रूपान्तरण केवल दर्शन तक ही सीमित नहीं रहना चाहिए परन्तु उसके व्यापकत्व की सीमा में संस्कृति के सब पहलू आ जाने चाहिए। नहीं तो पुनः वही बात होगी कि दर्शन जीवन से अथवा उसके एक बहुत बड़े अंश से दूर जा पड़ेगा।

———

TRADE MARK